संस्कृत भाषा का इतिहास



श्रीमती मंजु शर्मा

संस्कृत भाषा का इतिहास

श्रीमती मंजु शर्मा

संस्कृत भाषा का इतिहास

रचना प्रकाशन

जयपुर

संस्कृत भाषा का इतिहास

श्रीमती मंजू शर्मा

ISBN : 81-86116-15-X
संस्करण : 1997

मूल्य : चालीस रुपये
प्रकाशक : रचना प्रकाशन
57, नाटाणी भवन, मिश्र राजाजी का रास्ता,
चांदपोल बाजार, जयपुर–302001
मुद्रक : गजेन्द्र प्रिन्टर्स, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

संस्कृत आलोचना-शास्त्र

प्राक्कथन

यह पुस्तक भाषा-विज्ञान विशेषतया आर्यभाषा-परिवार तथा भारतीय आलोचना-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के स्वरूपांकन हेतु लिखी गई है। दोनों विषयों को सरल एवं संक्षेपमयी शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, जिससे कि अध्येता के लिए विषयों की जटिलता भी सरलता में परिवर्तित हो जाए।

भाषा-विज्ञान

भाषा-विज्ञान में भाषा की उत्पत्ति, परिभाषा, वर्गीकरण, परिवर्तन के नियम एवं दिशाओं आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आर्यभाषा के उद्‌गम की दृष्टि से भारोपीय भाषा एवं परिवार का सार रूप में विवेचन करने बाद वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, प्राकृत तथा पालि भाषा के तुलनात्मक स्वरूप पर भी दृष्टि डाली गई है। इससे संस्कृत भाषा के मूल स्वरूप एवं विकास-क्रम पर पूर्ण प्रकाश डाला जा सका है।

भाषा-विज्ञान में मुख्य बिन्दु है, भाषा का ज्ञान और भाषा को समझने के लिए "शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध" जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः यह विषय इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्राचीनकाल से लेकर आज तक "शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध" पर विस्तृत चर्चा की गई है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्द के साथ विचार (Concept) के साहचर्य (Association) का परीक्षण किया गया, जिससे वस्तु के साथ इसका अविभाज्य सम्बन्ध ज्ञात हो सके। इसे नामों को शाब्दिक (Etymological) औचित्य देने का प्रयास कहा जा सकता है। निघण्टु तथा निरुक्त में अर्थान्वेषण की प्रगति प्रदर्शित है। शाकल्यरचित निघण्टु में वैदिक शब्दों के अर्थाधारित समूहों को व्यवस्थित किया गया है। यह भारतीय कोश-विज्ञान का प्राचीनतम स्वरूप कहा जा सकता है। महाभाष्य में कहा गया है—

"बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति, तद् यथा इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः। एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद् यथा—अक्षाः, पादाः, भाषा इति।"

निरुक्त में "देवर" शब्द की व्युत्पत्ति (द्वितीयो वरः) से और 'वाराह' तथा 'पुष्कर' शब्दों वराहार एवं वपुष्कर का संक्षिप्त रूप बताने और 'कितव' का 'किं तवास्ति' जैसा अर्थ तलाश करना यही सिद्ध करता है कि निरुक्तकार को साधारणीकरण के आधुनिक सिद्धान्तों का पूर्वतः आभास हो गया था।

पतंजलि ने "अर्थगत्यर्थः शब्द प्रयोगः" कहकर शब्द के प्रयोग से विचाराभिव्यक्ति को ही परम उद्देश्य बताया है। इससे यही सिद्ध होता है कि भाषा का शरीर तो ध्वनि है और विचार (Concept) इसकी आत्मा है। इस दृष्टि से भाषा को आन्तरिक चेतना का प्रकटीकरण (Menifeslation) कहा जा सकता है। न्यायसूत्र में वात्स्यायन ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु के बोध हेतु एक ऐसा शब्द होता है, जो इसके हेतु सक्षम होता है—

"यावदर्थं वै नामधेयशब्दाः, तैरर्थसंप्रत्ययः अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहारः।"

वस्तुतः चेतना ही सर्वप्रथम विषयी (Subject) तथा विषय (Object) के रूप में विभक्त होती है। उपनिषदों ने भी माना है कि शब्द और अर्थ अन्तर्विनिमयात्मक (Inter-changable) होते हैं, अर्थात् मन की अभिव्यक्ति भाषा से होती है और शब्द की संस्थिति मन में होती है, यथा—

"वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।"

(ऐतरेयोनिषद्)

अतएव कहा जाता है कि शब्द और अर्थ एक ही चेतना के दो भिन्न रूप हैं। भर्तृहरि ने विश्व के सभी तत्त्वों को शब्द-ब्रह्म का ही विवर्त (Transformation) कहकर इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है, अर्थात् शब्दों में निसर्गतः उन विचारों को प्रस्तुत करने की शक्ति होती है, जिनके लिए ये प्रतीक (Symbol) का काम करते हैं। तदनुसार शब्द सुनते ही अर्थ प्रस्तुत हो जाता है, जैसे 'गौ' कहते ही गलकम्बल (Dewlap), ककुद् (Hump), खुरों (Hoof) तथा सींगों (Horn) से युक्त वृषभ रूप प्राणी का स्वरूप सामने आ जाता है।

कालिदास ने भी शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को परमपुरुष एवं परमप्रकृति का सा सम्बन्ध माना है, यथा—

"वागर्थाविव संपृक्तौ ।"

भारतीय दार्शनिक अर्थात् मीमांसक एवं वैयाकरण भी शब्द और अर्थ में स्थायी संबंध मानते हैं। नैयायिक तथा वैशेषिक इसे संकेतजन्य (Conventinal) बताते हैं। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से प्रतीक (Symbol) तथा वस्तु (Object) के मध्य साहचर्य (Association) माना गया हैं, किन्तु इस संबंध को संयोग या समवाय जैसा नहीं मानते। क्योंकि शब्द तो आकाश का एक गुण है, अतः शब्द द्वारा संकेतित वस्तु (Object) के साथ दूसरा संयोग असंभव है। सत्य ही एक गुण अन्य गुण का आधार नहीं हो सकता। नैयायिकों का कहना है कि प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण के अभाव में शब्द और अर्थ के मध्य न तो संयोग और न ही समवाय संबंध हो सकता है।

किन्तु शब्द और अर्थ के मध्य वास्तविक या संप्रदत्त संबंध है अवश्य, अन्यथा कोई भी शब्द किसी भी अर्थ को देने लगेगा, जैसे कि "घट" से अश्व या सिंह का अर्थ दिया जाने लगेगा। फिर तो अराजकता आ जाएगी।

कणाद ने कहा है कि अर्थ का ज्ञान तो संकेत अर्थात् ईश्वरेच्छा (Will of God) से होता है। गौत्तम ने भी माना है कि शब्द और अर्थ का संबंध तो पूर्णतः रूढ़ है और यह न तो समवायरूप है और न ही प्राकृतिक। मीमांसक ध्वनि को अविनाशी मानते हैं और शब्द एवं अर्थ के मध्य का संबंध सहज तथा चिरस्थायी बताते हैं–

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंधः ।" (मीमांसासूत्र)

"अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबंधः ।" (शाबर भाष्य)

वाक्यपदीय के लेखक ने इस संबंध को अकृत्रिम (Unconversnipe) कहकर संज्ञा तथा विशेषण के संबंध जैसा माना है।

इस प्रकार "वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म" (बृहदारण्यक) से प्रारंभ होकर तांत्रिकों तक ने बिन्दु, नाद व बीज) भाषा व ध्वनि की उत्पत्ति एवं स्वरूप पर विचार किया है और शब्द तथा अर्थ के मध्य के संबंध पर भी प्रभूत प्रकाश डाला है।

आधुनिक भाषा-विज्ञान में भाषा की उत्पत्ति, भाषा की परिभाषा, अर्थ परिवर्तन तथा ध्वनि-परिवर्तन के विभिन्न कारणों का अन्वेषण एवं विश्लेषण किया जाता है, पर इस संबंध में मतैक्य नहीं पाया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में इन बिन्दुओं पर संक्षेप में विचारणा की गई है, जिससे प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण एवं आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण को तुलनात्मक दृष्टि से समझने में सहायता मिलेगी।

भारतीय आलोचना शास्त्र—किसी भी देश का साहित्य उसका दर्पण होता है और साहित्य को ठीक से पढ़ने व समझने के लिए साहित्य-शास्त्र या आलोचना-शास्त्र का अध्ययन सर्वथा उपयोगी माना गया है। आलोचना-शास्त्र में न केवल साहित्य की परिभाषा अपितु साहित्य के उत्तम, मध्यम या अधम होने के मानदंड भी प्राप्त हैं। इससे ज्ञात होता है कि साहित्य में गुण तथा अलंकारों का कैसा आधान हो और किस प्रकार काव्य को रस-दोषों से मुक्त रक्खा जाय। शब्द-शक्ति अर्थात् अभिधा, लक्षणा व व्यंजना का महत्त्व, रस-चर्वणा एवं ध्वनि-सौंदर्य आदि का ज्ञान भी आलोचना-शास्त्र से प्राप्तव्य हैं।

भारतीय आलोचनाशास्त्र के छह प्रमुख संप्रदायों अर्थात् अलंकार-संप्रदाय, रस-संप्रदाय एवं ध्वनि संप्रदाय आदि में जिन पृथक्-पृथक् सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, उन्हें भी इस पुस्तक में संक्षेप में समाविष्ट किया गया है।

आशा की जाती है कि यह पुस्तक भाषा-विज्ञान एवं भारतीय अलंकार-शास्त्र के विभिन्न संप्रदायों से परिचय प्राप्त करने के लिए अध्येताओं एवं अध्यापकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक में संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धन हेतु विद्वज्जन के सुझाव भी आमंत्रित हैं, ताकि इसके आगामी संस्करण में इनका समावेश किया जा सके।

इस पुस्तक के लेखन में मुझे अपने पूज्य श्वसुर डॉ. पुष्कर दत्त शर्मा और आदरणीय शोध-निदेशक डॉ. प्रभाकर शास्त्री से पूर्ण निर्देशन प्राप्त हुआ है, तदर्थ में दोनों के प्रति श्रद्धावनत हूं।

मैं इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ "रचना प्रकाशन" जयपुर के प्रोपराईटर रामशरण के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

श्रीमती मञ्जु शर्मा

भाषा का स्वरूप एवं उद्देश्य

स्वरूप—"भाषा" धातु का अर्थ है, बोलना या कहना। अतः भाषा का सामान्य अर्थ बोली या कथन है। किन्तु भाषा तो पक्षियों या पशुओं की भी होती है और कभी-कभी "मूक-भाषा" जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। "अहिफन कमल चक्र टंकारा" के रूप में कोड (Code) भाषा भी हो सकती है। तो क्या इन सबको भाषा की संज्ञा दी जाए ?

वस्तुतः भाषा का अर्थ केवल बोलना नहीं है। यदि विचारों के साथ भाषा का सम्बन्ध न हो तो उसे भाषा कहना अनुचित होगा। क्रीडा-रत बालक की उच्चारित ध्वनियाँ अथवा भावावेश में एकाकी बैठे व्यक्ति के उद्‌गारों को भाषा नहीं कह सकते।

भाषा तो विचार करने का साधन है, क्योंकि भाषा और विचार का अटूट सम्बन्ध है। भाषा के बिना विचार करना सम्भव नहीं है और विचार के अभाव में ध्वनियों का उच्चारण संभव नहीं। अतः सिद्ध है कि भाषा और विचारों के मध्य एक ऐसा माध्यम है, जिसे विचार-प्रतिभा या ध्वनि-प्रतिभा कहा जा सकता है। अभ्यास होने पर अनायास ही दोनों का तारतम्य बना रहता है।

परिभाषा—भाषा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, जिससे समाधान की अपेक्षा जटिलता ही हाथ लगती है। अतः साधारणतया भाषा की एकमात्र परिभाषा यही हो सकती है कि—

"व्यक्ति के विचारों को दूसरे व्यक्ति तक सक्षम रूप में संप्रेषित करने का माध्यम ही भाषा है।"

इस परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में ही भाषा के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन यहां अभिप्रेत है। अतएव मूक लोगों, पशु-पक्षियों तथा कोड की भाषा को भाषा नहीं माना गया है और उन पर विचार करना भी अनावश्यक समझा गया है।

भाषा की उत्पत्ति

भाषा का प्रारम्भ कैसे और कब हुआ ? यह प्रश्न मानव मन को सदा

ही उद्वेलित करता रहा है। भिन्न भिन्न देशों के विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक युक्तियाँ देकर इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया है।

सामान्यतः भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्धित मतों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(1) दिव्य सिद्धान्त (2) अदिव्य सिद्धान्त

दिव्य सिद्धान्त—इसके समर्थक विद्वानों का कथन है कि भाषा पूर्णतः ईश्वर की अनुपम देन हैं, जिसे वह जन्मजात संस्कार के रूप में ईश्वर से प्राप्त करता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार प्रमुख धर्म ग्रन्थ भी ईश्वर-रचित हैं, जैसे- -हिन्दुओं के चारों वेद, ईसाइयों की बाइबिल और मुसलमानों की कुरान-शरीफ ईश्वरीय रचना मानी जाती है। वेदों की भाषा संस्कृत को "देव भाषा" मानने वालों का कहना है कि संस्कृत ही आदि-भाषा है और इसीसे विश्व की अन्य भाषाओं तथा उपभाषाओं की उत्पत्ति हुई है।

यहूदियों के अनुसार इंजील की भाषा ही आदिम भाषा थी, जिसे ईश्वर ने प्रदान किया था। कुरान की भाषा भी ईश्वर के पैगम्बर की अर्थात् ईश्वर की ही रचना मानी जाती है। बौद्ध लोग पाली को मूल भाषा और जैन धर्मावलम्बी अर्ध मागधी (प्राकृत) को ही प्राणिमात्र की भाषा मानते हैं।

इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक प्राणी में भाषा के संस्कार जन्मजात होते हैं और उसे भाषा सीखनी नहीं पड़ती। किन्तु भाषा की दिव्य उत्पत्ति के सिद्धान्त को अव्यावहारिक तथा असंगत मानने वाले आलोचकों का कहना है कि यदि भाषा ईश्वर प्रणीत होती तो विश्व में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जन्म लेने वाले बच्चों की भाषा एक जैसी होती, जबकि तथ्य यह है कि ऐसे बच्चे अपने-अपने देश में प्रचलित और माता-पिता के द्वारा बोली जाने वाली भाषा ही बोलना आरम्भ करते हैं। उदाहरणतया अफ्रीका में उत्पन्न बच्चा अकारण ही चीनी या रूसी आदि भाषा नहीं बोलता। इसी प्रकार जापान में उत्पन्न बच्चा भी अकारण ही अरबी भाषा नहीं बोलेगा।

इन आलोचकों का यह भी कहना है कि भाषा जन्म-जात संपत्ति नहीं है। इसे तो अर्जित करना होता है, अर्थात् सीखना पड़ता है। इस अर्जन-क्रिया में आसपास के वातावरण का अत्यधिक महत्त्व होता है। अतीत में मिश्र के

राजा सेमेटिकुश तथा बादशाह अकबर द्वारा किये गये कुछ परीक्षणों से भी प्रमाणित हुआ है कि यदि जन्मोपरांत बच्चे या बच्चों को किसी ऐसी जगह बन्द रक्खा जाए जहां उन्हें किसी भी प्रकार की भाषा सुनने को न मिले, तो दीर्घकाल के बाद मुक्त किये जाने पर यही ज्ञात होगा कि ऐसा बच्चा या बच्चे गूंगे ही रहेंगे और वे एक अक्षर भी नहीं बोल पायेंगे। मात्र पशु-पक्षियों के बीच पला हुआ बच्चा भी गुर्राहट आदि के अतिरिक्त किसी भी अन्य ध्वनि का उच्चारण नहीं कर सकेगा। भेड़ियों द्वारा पाले गये 'रामू' का उदाहरण तो प्रत्यक्ष है। उसे लखनऊ लाये जाने पर और सुदीर्घ काल तक बोली सिखाने का प्रयत्न करने पर भी वह एक दो शब्दों से अधिक नहीं बोल सका।

इससे सिद्ध है कि भाषा की दिव्य-उत्पत्ति का सिद्धान्त अप्रामाणिक एवं अग्राह्य है।

अदिव्य उत्पत्ति सिद्धान्त—

भाषा को अर्जन की संपत्ति मानने वाले विद्वानों का कहना है कि भाषा तो आसपास के वातावरण में व्याप्त श्रुत एवं उपलब्ध ध्वनियों के प्रभाव तथा सहयोग से ही उत्पन्न हुई होगी। इस बारे में अनेक मत या संभावनायें व्याप्त की गई हैं। ये मत इस प्रकार हैं :—

(1) प्रारम्भ में विश्व के लोगों ने विचार-विनिमय हेतु एक स्थान पर एकत्र होकर हर बात के लिए एक-एक शब्द निश्चित किया। धीरे-धीरे इस निश्चत शब्दावली में आवश्यकतानुसार वृद्धि होती गई, जिससे भाषा पूर्णतः विकसित हो गई।

इस मत के विरोधियों ने यह आपत्ति उठाई कि प्रारम्भ में एकत्रित लोगों ने किस भाषा में विचार-विनिमय किया होगा और वह शब्दावली कैसी थी, जबकि भाषा तो उस समय कोई थी ही नहीं। दूसरी आपत्ति यह है कि यदि संपूर्ण विश्व के लोगों ने एकत्र होकर कुछ प्रारम्भिक शब्दावली या अधूरी भाषा निश्चित की थी तो विश्व में प्रत्येक स्थान पर उसी एक भाषा का प्रयोग होना चाहिए था, जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है और भिन्न-भिन्न देशों में पृथक्-पृथक् भाषा परिवार एवं बोलियाँ प्रचलित हैं।

इससे उपर्युक्त मत की अग्राह्यता स्पष्ट है।

(2) द्वितीय मत यह है कि आदिम मानव ने आसपास के पशु-पक्षियों की आवाजें सुनकर वैसी ही ध्वनि उत्पन्न करना सीख लिया। उदाहरणतया कोयल की कुहू-कुहू, बिल्ली की म्याऊँ-म्याऊँ, कुत्ते की भौं-भौं, भेड़िये की हुआँ-हुआँ और सिंह की दहाड़ सुनकर मानव ने भी कुहू-कुहू की ध्वनि निकालना प्रारंभ कर दिया होगा और परस्पर संकेतार्थ बिल्ली को म्याऊँ, कोयल को कुहू, कुत्ते को भौं और इसी प्रकार भेड़िये तथा सिंह आदि को संकेतित करने के लिए अनुकरण बोधक शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ किया होगा और धीरे-धीरे इन्हीं सांकेतिक शब्दों से भाषा का विकास हुआ होगा।

इस मत के विरुद्ध यही तर्क दिया जाता है कि विश्व की प्रत्येक भाषा में इस तरह के अनुकरण मूलक शब्दों की संख्या सर्वथा परिमित है। अतः ऐसी परिमित शब्दावली से किसी भी भाषा की उत्पत्ति मान सकना संभव नहीं है।

(3) इस मत के अनुसार पेड़ से पत्ता गिरने पर पट्-पट्, हवा चलने से सन्न-सन्न, झरने की आवाज से झर्र-झर्र, पानी के बहने से सर्र-सर्र और किसी चीज पर आघात करने से ठक्-ठक् की ध्वनि होती है। मानव ने इन आवाजों को सुनकर अनुसरणात्मक पट्-पट् या ठक्-ठक् की ध्वनि निकालना शुरू किया होगा। बाद में इन्हीं ध्वनि-समूहों से भाषा विकसित हुई होगी।

इस मत के विरुद्ध भी पूर्णतः उल्लिखित तर्क दिया जाता है कि विश्व की किसी भी भाषा में ऐसे अनुसरणात्मक शब्दों की संख्या दस बीस से अधिक नहीं है, अतः इससे किसी भी भाषा का विकसित होना संभव नहीं है। असभ्य और असंस्कृत लोगों की भाषाओं में भी अनुकरणात्मक या अनुसरणात्मक शब्दों का परिमित प्रयोग होने से यही सिद्ध होता है कि उपर्युक्त मत असंगत एवं अग्राह्य है।

(4) इस मत के अनुसार आदिम मानव ने प्रशंसा के स्वर में वाह-वाह, पीड़ा होने पर आह, निंदा के स्वर में छि-छि, श्रम के समय हे-हो और चुप रहने के अर्थ में हुश्-हुश् जैसी ध्वनियां उत्पन्न करता होगा और कालान्तर में इन्हीं विस्मय बोधक ध्वनियों से भाषा का विकास हुआ होगा।

इस मत के विरुद्ध भी वही आपत्ति है जो ऊपर दी गई है। विश्व की किसी भी भाषा में विस्मयबोधक शब्दों की संख्या अति न्यून है और भिन्न

भिन्न भाषाओं में विस्मय प्रकट करने के शब्द भी भिन्न है। अतः यह मत भी अग्राह्य है।

निष्कर्ष—इस प्रकार उपर्युक्त किसी भी मत से भाषा की उत्पत्ति का मूल कारण या समय निश्चित करना कठिन है। इतना अवश्य माना जा सकता है कि अनुकरणात्मक, अनुरणनात्मक एवं विस्मयबोधक ध्वनियों से भाषा के विकास में कुछ सहायता अवश्य मिली होगी। यद्यपि भाषा वैज्ञानिकों को मूल कारण ज्ञात करने में अभी तक सफलता नहीं मिली है, किन्तु वे हताश नहीं हुए हैं। वे बच्चों, असभ्य एवं बर्बर लोगों की बोलियों तथा सुदूरस्थ भाषाओं के तुलनात्मक तथा वैज्ञानिक अध्ययन से इस समस्या का समाधान ढूँढ़ने में तत्पर हैं। संभव है, वे अपने प्रयत्न में सफल हो जायें।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा और विचार में सन्निहित अटूट सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए विचारों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त शब्दों या ध्वनि-समूहों का स्वतः उच्चारण होता गया होगा और इसी पद्धति से भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न भाषाओं की उत्पत्ति और विकास हुआ होगा।

अन्य शास्त्रों के साथ भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध

भाषा के विकास का अध्ययन करने में भूगोलशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, भौतिक शास्त्र एवं ध्वनि-विज्ञान आदि से भी सहायता मिली है, जिससे भाषा-विज्ञान पूर्णतः वैज्ञानिक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

(1) भूगोलशास्त्र और भाषा-विज्ञान—पर्वतीय प्रदेशों, मरुभूमि तथा द्वीपों पर रहने वाले लोग अन्य प्रदेशों के लोगों से कटे हुए से रहते हैं, जिससे उनकी भाषा विकसित नहीं हो पाती। दूरस्थ लोगों को पुकारने में उन्हें जोरों से बोलना पड़ता है, जिससे उनकी ध्वनियों पर प्रभाव पड़ता है। बोलियों की संख्या के कम-अधिक होने पर भी इसका प्रभाव द्रष्टव्य है। ग्राम, नगर, नदी एवं पर्वतों के नामों से भी भौगोलिक सामग्री उपलब्ध होती है।

(2) समाजशास्त्र और भाषा विज्ञान—पत्नी द्वारा पति का नाम न लेकर "मुन्ने के बापू" आदि कहकर पुकारना, सांप को रस्सी या कीड़ा कहना, शव को मिट्टी कहना, मल-त्याग के स्थान पर जंगल जाना और "देवानां

प्रिय:" का मूर्ख अर्थ में प्रयोग आदि का अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र से उपयोगी सहायता मिलती है। इसी से पता चलता है कि किन अन्धविश्वासों या शुभ-अशुभ अथवा रूढ़िवादिता के कारण इस प्रकार के वैकल्पिक प्रयोग प्रचलित हो गये।

(3) **इतिहास और भाषा-विज्ञान**—किसी भी भाषा में विदेशी शब्दों की उपलब्धि का कारण इतिहास के पृष्ठों से ही ज्ञात हो सकता है। भारतीय भाषाओं में प्राप्त अरबी-फारसी के शब्द विगत आठ सौ नौ सौ वर्ष तक भारत में मुस्लिम शासन के और अंग्रेजी शब्दों या अंग्रेजी भाषा का प्रचलन दो सौ वर्ष तक भारत पर अंग्रेजी शासन का परिचायक है। तदर्थ-इतिहास की जानकारी आवश्यक है। ब्रजभाषा के शब्दों का बंगला या मराठी आदि भाषाओं में पाया जाना भी इसी ऐतिहासिक तथ्य को उजागर करता है कि ब्रजमण्डल का वैष्णव धर्म भारत के सुदूरस्थ प्रदेशों में भी व्याप्त था। वैदिक साहित्य के प्राचीन अंशों में सिंह या सहस्र जैसे शब्दों का अभाव देखकर अनुमान किया जा सकता है कि भारत में आर्यों का विस्तार किस दिशा में और किस गति से हुआ होगा और उन्हें गणितशास्त्र का कितना ज्ञान था। इस प्रकार इतिहास से भाषा विज्ञान का अध्ययन करने में बड़ी सहायता मिलती है।

(4) **शरीर विज्ञान और भाषा-विज्ञान**—ध्वनि का उच्चारण मुख, जिह्वा, तालु, कण्ठ, ओष्ठ, दंत व नासिका आदि से ही होता है और उसमें ध्वनियंत्र तथा श्रोत्रेंद्रिय से भी सहायता लेनी पड़ती है। तदर्थ-शरीर विज्ञान का अध्ययन अत्यन्त सहायक होता है। ध्वनि उच्चारण तथा ध्वनि-ग्रहण का वैज्ञानिक विश्लेषण शरीर विज्ञान से ही संभव है।

(5) **भौतिक शास्त्र और भाषा-विज्ञान**—ध्वनि का स्वरूप, गति और संप्रेषण ज्ञात करने के लिए भौतिकशास्त्र (Physics) का अध्ययन अत्यंत उपयोगी है। ध्वनि आकाश का गुण है और वह अविनाशी है, इस धारणा की पुष्टि भौतिक शास्त्र से ही संभव है। सुदूरस्थ व्यक्तियों तक ध्वनि-संप्रेषण के लिए टेलिफोन, रेड़ियो, टेप-रिकार्डर और सैटेलाइट आदि की सुविधा भौतिक शास्त्र की ही देन है।

(6) **मनोविज्ञान और भाषा-विज्ञान**—भाषा और विचार में नियत साहचर्य की चर्चा पूर्वतः की जा चुकी है और विचारों का अध्ययन मनोविज्ञान से ही संभव है। रुक-रुक कर बोलना, तुतलाना और गला रुंध जाना आदि का कारण मनोविज्ञान की सहायता से ही ज्ञात हो सकता है। एक पीढी से दूसरी पीढ़ी तक आते आते भाषा में जो परिवर्तन संलक्षित होते हैं, उनका विश्लेषण भी मनोविज्ञान से किया जा सकता है।

(7) **भाषा और व्याकरण**—जब कोई बोली "भाषा" बन जाती है तो उसका व्याकरण भी लिखित या अलिखित रूप से बन जाता है। बोलियों का भी व्याकरण न सही, किन्तु सर्वमान्य अलिखित नियम अवश्य होते हैं, जिससे बोली बोलने वाले लोग अन्य व्यक्तियों के साथ वार्तालाप करने में कठिनाई अनुभव नहीं करते। बोली की एकरूपता से ही उनका पारस्परिक जुड़ाव ज्ञात होता है और बोली में किंचित् अन्तर होते ही वक्ता के इतर भाषीय होने का पता लग जाता है।

संस्कृत का व्याकरण तो इतना सर्वांगीण है कि सहस्रों वर्षों के बाद भी यह भाषा अक्षुण्ण सी है। पद विज्ञान एवं वाक्य विज्ञान तथा अर्थ विज्ञान आदि के अध्ययन में भी व्याकरण से पर्याप्त सहायता मिलती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त प्रमाणों से यही तथ्य उभरता है कि भाषा विज्ञान के अध्ययन में भूगोल तथा इतिहास आदि का अध्ययन अत्यंत उपयोगी एवं उपादेय होता है।

भाषा का विकास

संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। बौद्ध विद्वान् तो क्षण-क्षण में परिवर्तन की बात कहते हैं। किन्तु इतना अवश्य है कि परिवर्तन चाहे विलंब से हो या शीघ्रता से, होता जरूर है।

भाषा भी परिवर्तनशील है। भाषा की ध्वनि, शब्द, अर्थ एवं वाक्य विन्यास आदि सभी रूपों में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है, चाहे वक्ता या श्रोता को इस क्रमिक परिवर्तन का पता होया न हो। हाँ सौ दो सौ वर्षों के बाद भाषा-वैज्ञानिकों, साहित्यकारों तथा इतिहासकारों तथा विचारकों के तुलनात्मक अध्ययन से विगत परिवर्तनों का आभास हो जाता है।

वैयाकरणों की दृष्टि में ये परिवर्तन अशुद्ध प्रयासों की श्रेणी में आते हैं, किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ये परिवर्तन विकास के द्योतक हैं। वस्तुतः भाषा को कितना ही नियमित या नियंत्रित क्यों न कर दिया जाए, उसमें परिवर्तन या विकास तो होगा ही। पाणिनि ने संस्कृत भाषा को स्वकीय अद्भुत व्याकरण से नियमबद्ध करने में तो सफलता प्राप्त कर ली, किन्तु सामान्य-जन की भाषा शनैः शनैः परिवर्तित या विकसित होती गई और परिणामतः कालान्तर में लोग प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं को प्रयोग करने लगे, जिससे कि सुव्याकरण से अलंकृत संस्कृत भाषा के वक्ताओं की संख्या तेजी से घटती गई और आज तो संस्कृतज्ञ जनों की संख्या कुछ लाख तक ही सीमित रह गई है।

विकास का यह क्रम ग्रीक, लैटिन, जर्मन तथा अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं में भी संदृष्ट है। इससे यही प्रमाणित होता है कि भाषा में विकास सर्वथा सहज एवं अपरिहार्य है। हाँ, इतना अवश्य है कि सभी भाषाओं में विकास की गति एक समान नहीं होती। इस वैषम्य के अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम तो विकास के प्रमुख कारणों पर दृष्टि डाली जाए।

भाषा में विकास के कारण

(1) सर्वप्रथम कारण तो उच्चारण-यंत्र से संबन्धित है। यद्यपि शरीर विज्ञान की दृष्टि से सभी लोगों में यह यंत्र एक जैसा होता है, किन्तु इसका उपयोग करते समय कुछ भिन्नता आ जाती है।

उदाहरणतया अंग्रेज लोग त् (दंत्य) का और फ्रेंच या चीनी-जापानी लोग ट् (मूर्धन्य) ध्वनि का उच्चारण नहीं कर सकते। इसी प्रकार हिन्दी-भाषी लोग बिना अभ्यास या जानकारी के टट्टू के ट् (मूर्धन्य) और Time के t (Peveolar) अक्षर के मध्य या फिर फल के फ् (Labial) तथा फिरोजी के फ् में अन्तर नहीं कर पाते। इसी तरह ल (मूर्धन्य) का उच्चारण करने में राजस्थानी व्यक्ति को कोई कठिनाई नहीं होती और वह लगातार ळ् ळ् ळ् बोलता जायगा, किंतु उत्तर प्रदेश का निवासी ब् के स्थान पर ल (दंत्य)हीबोल पाएगा। उससे ब का उच्चारण प्रायः असंभव है। अभ्यास के बाद भले ही वह ळ् का उच्चारण कर सके। अंग्रेजी के Thank yon में Th का सही

उच्चारण तो बहुत से अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों को आज तक ज्ञात ही नहीं है। सही स्थान पर बलाघात न देने की गलती तो प्रायः की जाती है। बंगला में अ के स्थान पर आ का प्रयोग तो सर्वविदित है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वर-यंत्र के प्रयोग में भिन्नता के कारण भाषा या ध्वनि-उच्चारणों में परिवर्तन होने लगता है।

(2) **भौगोलिक कारण** :—पर्वतीय प्रदेशों या मरुस्थल के निवासियों को प्रायः दूरस्थ व्यक्ति को बुलाने के लिए अंतिम पद की अंत्य-ध्वनि को लंबा करते हुए देखा गया है, जैसे "रामू ऊ ऊ ऊ................"। पर्वतों में प्रतिध्वनित होने के कारण यह ध्वनि और भी लंबी प्रतीत होती है। इसका एक मात्र उद्देश्य यही है कि आहूत व्यक्ति को दूर होने पर भी वह आवाज सुनाई दे जाए। बिहार जैसे प्रदेश में भी अंतिम ध्वनि को लंबा करने की प्रवृत्ति सामान्यतः देखी गई है। वे सामान्य वार्तालाप में भी संबोधन की ध्वनि को इतना लंबा कर देते हैं कि अटपटी लगती है। जैसे शर्माजी ! कहना हो तो वे बोलेंगे–शर्माजी ई ई ई !

पर्वतीय जन शीताधिक्य से मुँह पूरा खोले बिना बोलते हैं, जबकि राजस्थान जैसे उष्ण प्रदेश के निवासी मुँह को पूरा खोलकर बोलते हैं। इससे दोनों की भाषा में अंतर आ जाना स्वाभाविक है।

इससे स्पष्ट है कि भौगोलिक कारणों से भाषा में परिवर्तन या विकास हो जाता है।

(3) **जातीय या मानसिक कारण**:—विश्व में कुछ लोग स्वकीय भाषा को श्रेष्ठतम मानते हैं और अन्य भाषाओं को हीन समझते हैं। भारत में बंगाली अपनी भाषा को ललित एवं मधुरतम मानते हैं और अन्य भारतीय भाषाओं को लालित्य–विहीन या अमधुर बताते हैं। यूरोप में फ्रेंच भाषा अतिललित एवं मधुरतम समझी जाती है, किंतु जर्मनी के लोग जर्मन को एक मात्र आर्य भाषा और श्रेष्ठतम मानते हैं। उनकी दृष्टि में यूरोप की अन्य भाषाओं में आभिजात्यता है ही नहीं। मद्रासी जिस गति से बोलता है, उसकी तुलना में अन्य भारतीयों की बोली उसे फुसफुसाहट सी लगती हैं।

वस्तुतः इसमें जाति या राष्ट्र विशेष को अन्य जातियों या राष्ट्रों से उच्चतर (Superior) समझने की भावना परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त मूर्धन्य ध्वनियों अर्थात् ट वर्ग-ध्वनियों का आधिक्य या नितांत अभाव और

संयुक्त अक्षरों का कम-अधिक प्रयोग भी भाषा में माधुर्य तथा सौष्ठव को घटाने-बढ़ाने में सहायक है। जलवायु की अनुकूलता या वैषम्य भी इसका कारण माना जा सकता है।

स्मरणीय है कि भाषा की रूक्षता या लालित्य विषयगत (Objective) तथ्य नहीं है। इसमें तो वक्ता का स्वकीय आग्रह ही प्रमुख होता है। किन्तु ट वर्ग–ध्वनियों का और संयुक्त अक्षरों का नितांत अभाव भाषा में लालित्य या कहें कि सौविध्य अवश्य ला देता है। फ्रेंच में अंतिम व्यंजनों का अनुच्चारण भी उसे एक ओर तो ललित भाषा का रूप देता है और दूसरी ओर उसे द्रुतभाषा भी सिद्ध करता है। ललित या रूक्ष प्रयोग के उदाहरण-स्वरूप संस्कृत के दो वाक्य, जो अतिप्रसिद्ध हैं, यहाँ प्रस्तुत हैं—

(क) नीरसतरुरिह विलसति पुरतः। सामने ठूंठ खड़ा है।

(ख) शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।

साहित्यकार को प्रथम वाक्य ललित लगता है, जबकि वैयाकरण को द्वितीय। अतः कहा जा सकता है कि ट वर्ग-ध्वनियों तथा संयुक्त अक्षरों से युक्त भाषा में कुछ रूक्षता सी प्रतीत होती है, किंतु यह अनुभूति भी विषयी-परक है, न कि वस्तु-परक।

(4) **प्रयत्न लाघव**—मानव स्वभावतः कम से कम परिश्रम करना चाहता है। लंबे मार्ग की अपेक्षा छोटे किंतु कठिन मार्ग पर चलना, मार्ग न होने पर भी परकीय भूमि या दीवार पर से होकर गुज़रना, चार पैसे की अपेक्षा दो पैसे से काम चलाना, भोज्य पदार्थ को ठीक से चबाये बिना ही निगलना, बिना पढ़े ही पास होने का प्रयत्न करना या आशा रखना, दण्डवत् प्रणाम करने की बजाय थोड़ा सा झुकना या केवल हाथ भर जोड़ना और टिकिट आदि लेने के लिए कतार को तोड़ना या ना छोड़ना आदि सिद्ध करता है कि मानव किसी भी कार्य के लिए आवश्यक पूर्ण प्रयत्न नहीं करना चाहता।

भाषा को सम्बन्ध में भी मानव का प्रयत्न-लाघव सुविदित है। कृष्ण का किसन, विजयेंद्र ता विजू, पुष्कर का पोखर, मास्टर साहेब का मा साब, मदर का मम्मी या मम्, डैडी का डेड, गुड मोर्निंग का मोर्निंग, गुड बाई

का बाई और हाऊ डू यू डू का हाडुडू आदि उच्चारण इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं कि मानव अधिक प्रयत्न की अपेक्षा कम प्रयत्न से ही काम चलाता है। सर्वाधिक शब्द संक्षेप (Abriviation) तो इसके प्रबल प्रमाण हैं।

यही प्रयत्न-लाघव भाषा को विकसित करनें में सहायक होता है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट है, जैसे—

अस्ति=अत्थि=आथि=आहि=हइ=है

मया=मइ=मैं

ततः=तओ=तउ=उ

त्वया=तुइ=तू

अंग्रेजी Walk को वॉक, Chalk को चॉक्, Knife को नाइफ बोलना फ्रेंच के Paris को पारी बोलना, Pas को पा बोलना आदि भी प्रयत्न-लाघव का द्योतक हैं। हिन्दी के है को "ह' बोलना और राम को "राम्" बोलना भी इसी तथ्य को पुष्ट करता है। विश्व की अन्य भाषाओं में भी प्रयत्न-लाघव के उदाहरण बहुशः उपलब्ध हैं। किंतु यह मानना पड़ेगा कि अत्यधिक प्रयत्न के कारण ही भाषा में अधिकाधिक विकास होता आया है।

इस प्रयत्न-लाघव के फलस्वरूप ध्वनि-उच्चारण में निम्नलिखित प्रकार के परिवर्तन आ जाते हैं—

(1) **ध्वनि लोप** (Haplology on syncope)—जब दो समान ध्वनियां अत्यधिक निकट होती हैं तो प्रयत्न-लाघव के कारण उनमें से एक का लोप हो जाता है, जैसे जहीहि=जहि, शेववृधः=शेवृधः।

(2) **समीकरण** (Assimilation)—निकटवर्ती-ध्वनियों में किंचित् समानता होने पर प्रयत्न-लाघव के कारण दोनों पूर्णतः सम हो जाती है, जैसे दुग्ध=दुद्ध (दूध); सर्प=सप्प (सांप), अग्नि=अग्गि (आग); मार डाला= माड्डाला; इक्षु=उक्खु (ईख) और सूर्य का सूर आदि।

(3) **विषमीकरण** (Aissimilation)—कई बार निकटवर्ती ध्वनियों को प्रयत्न-लाघव के कारण विषम भी कर लिया जाता है, जैसे —

मुकुट=मउड=मौर

पक्व=पिक्क=पका

श्रिथिर=श्रिथिल=शिथिल

(4) **स्वरभक्ति** (Anaphyxis)—संयुक्त अक्षरों के उच्चारण में अधिक प्रयत्न करना पड़ता है, जिससे बचने के लिए दो व्यंजनों के बीच में स्वरागम हो जाता है, जैसे —

इन्द्र=इन्दर
कृष्ण=किशन
प्रसाद=परसाद
भक्त=भगत
रत्न=रतन

(5) **अग्रागम** (Prothesis)—शब्द के प्रारंभ में संयुक्त अक्षर होने पर भी उससे पहले स्वर का आगम होता है, जैसे—स्त्री=इस्त्री, स्कूल=इस्कूल स्टेशन=इस्टेशन, स्नान=अस्नान, स्ट्रीट=इस्ट्रीट आदि ।

(6) **परस्पर विनिमय** (Metathesis)–र्, ल् या स् ध्वनियां परस्पर बदल भी जाती हैं, जैसे—

लखनऊ=नखलऊ
अरमूद=अमरूद
मतलब=मतबल
जबेली=जलेबी
चिह्न=चिन्ह

विदेशी शब्दोंमें परिवर्तन—

विदेशी भाषा के शब्दों के कठिन उच्चारण या दुःश्रवण के कारण कुछ परिवर्तन हो जाते हैं, जैसे—

सिग्नल=सिगल
हॉस्पिटल=अस्पताल
टाइम=टेम
प्वाइंट्समैन=पैटमेन
वक्त=बखत
लैंटर्न=लालटेन

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा में विभिन्न कारणों से परिवर्तन होता रहता है, जिसे भाषा का विकास कहा जा सकता है । इस विकास क्रम को न तो कोई व्याकरण रोक सकता है और न ही कोई लोक-नियम ।

यह तो एक सहज क्रम है, जो समय के प्रवाह में घुल-मिलकर प्रवाहित होता रहता है।

भाषा में ध्वनि-परिवर्तन, अर्थ-परिवर्तन तथा वाक्य-विन्यास में परिवर्तन आदि पर पृथकतया बाद में विचार किया जायेगा।

ध्वनि-यंत्र

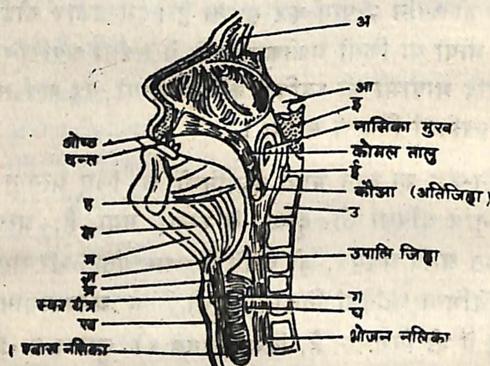
भाषा का अध्ययन ध्वनि-यंत्र के अध्ययन से ही संभव है। इसके अध्ययन एवं अधिकार से ही भाषा-वैज्ञानिक किसी देश के व्यक्ति के उच्चारण को ठीक से सुनने, समझने तथा पुनरुच्चारण करने में सफल हो सकता है। भाषा-विज्ञ ही जानता है कि कोई व्यक्ति किसी भी ध्वनि को किस उच्चारण-स्थल के प्रयोग से उत्पन्न कर रहा है और तब वह स्वयं उसी उच्चारण का प्रयोग करके वैसी ही ध्वनि उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार कोई भारतीय भाषा-विज्ञ चीनी भाषा या किसी अफ्रीकन आदि से सर्वथा अपरिचित होते हुए भी यदि चीनी आदि भाषाओं की ध्वनियों को सुनेगा तो वह अर्थ समझे बिना भी स्वयं वैसी ही ध्वनियां निकाल सकेगा।

अतः ध्वनि-यंत्र का ज्ञान भाषा वैज्ञानिकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस यंत्र का नाम सुविधा की दृष्टि से रक्खा गया है, अन्यथा मुख, ओष्ठ, तालु या कंठ आदि अवयव, जो ध्वनि के अन्तर्गत परिगणित हैं और जिनके प्रयोग से विभिन्न ध्वनियां निकाली जाती हैं, वे अवश्य मानव ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों में भी विद्यमान है, किन्तु मानव की तुलना में पशु-पक्षियों द्वारा सीमित सी ध्वनियों का उच्चारण ही किया जा सकता है। वस्तुतः यह अभ्यास का ही अन्तर है, जो मानव को पशु-पक्षियों की तुलना में ध्वनि-उत्पादन के क्षेत्र में अधिक सक्षम बना सका है।

ध्वनि-उत्पादन

मनुष्य जब सांस लेता है तो फेफड़ों में हवा भर जाती है। यही हवा जब सांस छोड़ते समय बाहर निकलती है तो मनुष्य स्वर-यंत्र, जो कि श्वास-नलिका के ऊपरी हिस्से में होता है, से लेकर कंठ, तालु, दंत तथा ओष्ठ आदि मुखावयवों का यथोचित प्रयोग कर वांछित ध्वनि निकाल लेता है।

इन अवयवों का उच्चारण-स्थान अर्थात् Points Of Articulatioh कहा जाता है। संस्कृत भाषा-विद्वानों को "अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः आदि के रूप में शताब्दियों पहले ही इन उच्चारण-स्थलों का ज्ञान, महत्त्व एवं प्रयोग ज्ञात था। संस्कृत का पाणिनि-व्याकरण इसी पर आधारित है। आधुनिक भाषा-वज्ञानिकों ने भी भाषा-शास्त्र का आधार ध्वनि के उच्चारण स्थलों को माना है। इन उच्चारण-स्थलों को ही समवेत रूप में ध्वनि-यंत्र कहा जाता है। इसका चित्र दृष्टव्य है—



क, ख, ग, घ	=	स्वर-यंत्र पिटक को सहारा देने वाली अस्थियां (Cartileges) है।
क्ष, त्र. ज्ञ	=	ठुड्डी और जिह्वा के पास की अस्थियां हैं।
ह	=	जीभ के नीचे और ठुड्डी के ऊपर का विवर है।

अ, आ	=	नाड़ियों के स्थान हैं।
इ	=	खोपड़ी के नीचे भाग की हड्डी है।
ई	=	खोपड़ी को सहारा देने वाली गर्दन की रीढ़ का सर्वोपरि भाग है।
उ	=	गर्दन का केन्द्र भाग है।
Pharynx	=	स्वरयन्त्र-पिटक से लेकर ऊपर नासिका-विवर के पास तक के स्वासनलिका का भाग।

ध्वनि-यंत्र की कार्य-पद्धति

पहले कहा जा चुका है कि नासिका या मुख से गृहीत वायु श्वास-नलिका से होकर दोनों फेंफड़ों में पहुंचता है और वहाँ से लौटते समय यदि नासिका-मार्ग से निकले और तब कोई ध्वनि निकाली जाए तो अनुनासिक ध्वनियां अर्थात् ङ्, ञ्, ण्, न् तथा म् उत्पन्न होंगे। किन्तु फेफड़ों से निकला श्वास यदि मुख-मार्ग से बाहर निकले और उस समय विभिन्न उच्चारण स्थलों के प्रयोग से ध्वनि निकाली जाए तो वह अनुनासिकेतर ध्वनि होगी, अर्थात् ङ्, ञ्, ण्, म् तथा म् से भिन्न सभी अन्य ध्वनियाँ।

फेफड़ों से निकलते समय ध्वनि को नासिका-मार्ग या मुख-मार्ग से निकालने में कौआ (अलिजिह्व) सहायक होता है। यदि यह तना हुआ रहे तो श्वास नासिका-मार्ग से निकालेगा और यदि यह लेटा रहे अर्थात् शिथिल रहे तो मुख मार्ग से।

स्मरणीय है कि कंठ में श्वास-नलिका के अतिरिक्त एक नली और भी है, जिसे भोजन-नलिका कहते हैं। श्वास-नलिका तथा भोजन-नलिका के बीच झिल्ली की मजबूत दीवार है, जो दोनों के कार्य को विभक्त रखती है। इससे भोजन-सामग्री तो श्वास-नलिका में नहीं जाती और भीतर सांस लेते समय श्वास-वायु कभी भी भोजन नलिका में नहीं जाती।

ध्वनि उत्पन्न करने में श्वास-नालिका सक्रिय रहती है और भोजन-नलिका अवरुद्ध रहती है। भोजन करते समय श्वास-नलिका बन्द रहती है। कभी असावधानी से भोजन का कोई अंश श्वास-नालिका की ओर चला जाए

तो तुरंत खांसी शुरू हो जाएगी, जिससे वह भोजनांश वहां से बाहर निकल आएगा। यदि कोई अंश कठोरता के कारण वहां फंस जाए दो सांस न ले पाने से जीवन खतरे में पड़ सकता है।

ध्वनियों का वर्गीकरण

ध्वनियों को सर्व-प्रथम दो वर्गों में विभक्त किया गया है, (1) स्वर तथा व्यंजन। स्वर तो वे ध्वनियाँ हैं, जो फेफड़ों तथा श्वास-नलिका से निःसृत श्वास द्वारा बिना किसी उच्चारण-स्थान के विशेष प्रयोग से उत्पन्न होती हैं। व्यंजन वे ध्वनियां हैं, जो उक्त श्वास के द्वारा किसी एक या एकाधिक उच्चारण-स्थान के प्रयोग से उत्पन्न होती हैं।

एकाकी स्वर का उच्चारण हो सकता है, किन्तु स्वर की सहायता के बिना एकाकी व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता।

स्वरों तथा व्यंजनों को सघोष–अघोष, अल्पप्राण–महाप्राण, तथा विवृत-संवृत आदि अन्य कई वर्गों में पुनः विभक्त किया गया है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इनके उच्चारण स्थान (Point of articulation) निश्चित हैं, यथा—

अकुहविसर्जनीयानां	कण्ठः	अ, क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, ह्, विसर्ग
इचुयशानां	तालुः	इ, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, य्, श्
ऋटुरषाणां	मूर्धा	ऋ, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, र्, ष्
लृतुलसानां	दन्ताः	लृ, त्, थ्, द्, ध्, न्, ल्, स्
उपूध्मानीयानां	ओष्ठौ	उ, प्, फ्, ब्, भ्, म्, उपध्मानीय
ञमङणनानां	नासिका च	ञ्, म्, ङ्, ण्, न्
एदैतोः	कण्ठतालु	ए, ऐ
ओदौतोः	कण्ठौष्ठम्	ओ, औ
वकारस्य	दन्तौष्ठम्	व्
जिह्वामूलीयस्य	जिह्वामूलम्	
नासिका	अनुस्वारस्य	

इसे चक्र-रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

कण्ठ	तालु	ओष्ठ	मूर्धा	दन्त	कण्ठतालु	कण्ठौष्ठ	दन्तौष्ठ	जिह्वामूल
अ	इ	उ	ऋ	ऌ	ए	ओ	व्	≍क्
क्	च्	प्	ट्	त्	ऐ	औ		≍ख्
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्				
ग्	ज्	ब्	ड्	द्				
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्				
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्				
ह्	य्	≍प्	र्	ल्				
विसर्ग	श्	≍फ्	ष्	स्				

इन स्वरों तथा व्यंजनों को बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नों के रूप में भी विभक्त किया गया है। तदनुसार आभ्यन्तर-प्रयत्न का प्रदर्शक चक्र आगे दिया जा रहा है—

आभ्यंतर-प्रयत्नबोधक चक्र

स्पृष्ट	इषत्स्पृष्ट	विवृत	इषद्विवृत	संवृत
	य्	अ ए	श्	प्रयोग (सिद्ध रूप) में ह्रस्व 'अ'
क्, ख्, ग्, घ्, ङ्				
	र्	इ ओ	ष्	
च्, छ्, ज्, झ्, ञ्				
	ल्	उ ऐ	स्	
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्				
	व्	ऋ औ	ह्	
त्, थ्, द्, ध्, न्				
		ऌ		
प्, फ्, ब्, भ्, म्				

बाह्य प्रयत्न 11 प्रकार का होता है, विवार, संवार, श्वास, नाद, अघोष, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ।

विवार, श्वास तथा अघोष—खर् प्रत्याहार के अक्षर अर्थात् ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, श्, ष्, स् ये अक्षर विवार, श्वास तथा अघोष माने गये हैं ।

संवार, नाद, घोष—हश् प्रत्याहार के अक्षर अर्थात् ह, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ये अक्षर संवार, नाद तथा घोष बताये गये हैं ।

अल्पप्राण—प्रत्येक वर्ग के प्रथम, तृतीय व पंचम अक्षर अर्थात् क्, ग्, ङ्, च्, ज्, ञ्, ट्, ड्, ण्, त्, द्, न् और प्, ब् तथा म् को और य्, व्, र्, ल् अक्षर को अल्पप्राण बताया गया है ।

महाप्राण—प्रत्येक वर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ अक्षर जैसे ख्, घ्, छ्, झ्, ठ्, ढ्, द्, ध् तथा फ्, भ् को और श्, ष् तथा स् को महाप्राण माना गया है ।

स्पर्श—क् से लेकर म् तक के पच्चीस अक्षर स्पर्श कहलाते हैं ।

अतःस्थ—य्, व्, र्, ल्

ऊष्म—श्, ष्, स्, ह्

अनुस्वार—अच्, अर्थात् किसी स्वर से परे अनुस्वार होता है, जैसे अं या ओं आदि ।

विसर्ग—अच् से अर्थात् किसी स्वर से परे विसर्ग होता है, जैसे अः या इः आदि ।

भाषा का वर्गीकरण

भाषा में पद-रचना के दो आधार होते हैं, संबन्ध-तत्त्व एवं अर्थ-तत्त्व । करणम्, पठनन्, गमनम् तथा हसनम् आदि में ल्युट् प्रत्यय का प्रयोग सम्बन्ध-तत्त्व की समानता है, जबकि करोति, पठेत्, गमिष्यति एवं हसतु आदि में अर्थ-तत्त्व की समानता है । इन दोनों तत्वों के आधार पर भाषाओं का किया गया वर्गीकरण आकृति मूलक कहलाता है, जबकि अर्थ-तत्त्व की समानता पर आधारित वर्गीकरण को ऐतिहासिक या पारिवारिक कहा जाता है ।

[क] आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक बर्ग को भी दो भागों में विभक्त किया जाता है—

(1) अयोगात्मक

(2) योगात्मक

अयोगात्मक भाषा वह होती है, जिसमें प्रत्येक पद स्वतंत्र सत्ता रखता है और किसी भी पद के कारण अन्य कोई पद प्रभावित या परिवर्तित नहीं होता । उदाहरणतया—

"रामः पाठशालां गच्छति"

इस वाक्य में तीन पद हैं, जो स्वतंत्र हैं और इनमें से कोई भी पद किसी भी अन्य पद को प्रभावित नहीं करता । चीनी भाषा में तो अयोगात्मकता का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है, क्योंकि वहाँ तो प्रत्येक पद की

सर्वथैव स्वतंत्र सत्ता होती है। इस तरह की अयोगात्मक भाषा से पद-क्रम से ही पता चलता है कि कोई पद सम्बन्ध तत्त्व तथा अर्थतत्त्व दोनों को बताने में समर्थ है या नहीं। सुर की विभिन्नता से भी अक्षर या पद के अर्थ में परिवर्तन आ जाता है।

उदाहरणतया—

Ram goes to Shyam राम श्याम के पास जाता है।

Shyam goes to Ram श्याम राम के पास जाता है।

इन दोनों वाक्यों में पद-क्रम को परिवर्तित कर देने से कर्त्ता एवं कर्म में परिवर्तन आ जाता है। चीनी भाषा में तो पदक्रम का बड़ा महत्त्व है, जैसे—

न्गो त नि (मैं तुझे मारता हूँ)

नि त न्गो (तू मुझे मारता है)

योगात्मक वर्ग

इस वर्ग की भाषाओं में अर्थ-तत्त्व एवं संबन्ध-तत्त्व का योग होता है। इस योग के भी तीन विभाग किये गये हैं—

(क) अश्लिष्ट

(ख) श्लिष्ट

(ग) संश्लिष्ट

अश्लिष्ट योगात्मक—भाषाओं में संबन्ध-तत्त्व एवं अर्थ-तत्त्व जुड़ने पर भी पृथक्‌तया दिखाई देते हैं, जैसे कृतिः, मनुष्यता, पठितुम् में दोनों तत्त्वों की पृथक् सत्ता स्पष्ट है। तुर्की भाषा का भी उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसमें सेव् का अर्थ है प्यार करना—

सेव्–मेक् (प्यार करना)

सेव्–इस्–मेक (परस्पर प्यार करना)

सेव्–दिर–मेक् (प्यार करवाना)

सेव्–इल्–मेक् (प्यार किया जाना)

इन उदाहरणों में अर्थ-तत्त्व एवं संबन्ध-तत्त्व पृथक्तया दिखाई देते हैं।

श्लिष्ट योगात्मक—भाषाओं में दोनों तत्त्वों के जोड़ने से अर्थ-तत्त्व में कुछ परिवर्तन तो आता है, किन्तु संबन्ध-तत्त्व पृथक् रूप में दिखाई पड़ता है, जैसे—

सांस्कृतिक, दैहिक, मानसिक (संस्कृत)

किताब, कुतुब, कातिब, मकतूब (अरबी)

इनमें अर्थ-तत्त्व अर्थात् संस्कृति, देह, मनस् (संस्कृत के शब्द) तथा अरबी के क् त् ब् (लिखना) शब्दों में संबंध-तत्त्व के जोड़ने से कुछ परिवर्तन आया है, किन्तु दोनों तत्त्वों की पृथक् सत्ता दिखाई पड़ती है।

संश्लिष्ट योगात्मक—भाषाओं में अर्थ-तत्त्व एवं संबंध-तत्त्व का योग इतना संश्लिष्ट होता है कि दोनों तत्त्वों को पृथक् कर पाना दुःसाध्य हो जाता है, जैसे—

न आर्ष-=अनार्षः

ऋजु का भाव=आर्जवः

राज्ञः पुत्रः=राजपुत्रः

(संस्कृत भाषा)

अडलिसरिअर्तोरसुअर्पोक=वह मछली मारने के लिए जल्दी करता है।

(ग्रीनलैंड की भाषा)

[ख] ऐतिहासिक वर्गीकरण

किसी भाषा के उद्गम-स्रोत अर्थात् वंश-वृक्ष के रूप में पूर्वतर भाषा को ढूंढकर उसकी शाखा-प्रशाखाओं को वर्गीकृत करना ऐतिहासिक वर्गीकरण कहलाता है। करीब दो सौ वर्ष से भी कुछ पहले यूरोप के विद्वानों को पता चला कि संस्कृत भाषा तथा यूरोपीय भाषाओं में कुछ आधारभूत समानता है। इस आधार पर अन्वेषण करके निष्कर्ष निकाला गया कि वैदिक संस्कृत

तथा ग्रीक व जर्मन आदि प्राचीन यूरोपीय भाषाओं की जननी कोई भाषा थी, जिसका अस्तित्व कल्पित होते हुए भी यथार्थवत् है, क्योंकि संस्कृतादि विद्यमान भाषाओं में प्राप्त साम्य और वैषम्य के मध्य एक अविच्छेद्य सूत्र है, जो उस पूर्वतर भाषा की विद्यमानता को प्रभावित करता है। इस कल्पित पूर्वतर भाषा को "भारोपीय" (भारत-यूरोप की) या Indo European नाम दिया गया है।

यद्यपि कुछ भारतीय विद्वानों को, विशेषत: संस्कृत-भक्तों को यह प्रकल्पना अस्वीकार्य रही है, क्योंकि वे तो संस्कृत को देवभाषा कहकर विश्व की सभी भाषाओं को संस्कृत से उद्भूत मानते हैं और संस्कृत को भाषाओं की जननी बताते हैं, किन्तु अधिकाँश भारतीय भाषा-विज्ञ भारोपीय भाषा की प्रकल्पना से सहमत से प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार भाषा के वंश-वृक्ष का अध्ययन करके कई भाषाओं को वर्गीकृत करना ऐतिहासिक वर्गीकरण कहलाता है। इस तरह के अध्ययन में भाषाओं के पारस्परिक साम्य को ध्यान में रखना पड़ता है। यह साम्य स्थान की निकटता एवं साधारण समानता दोनों दृष्टियों से विचारणीय है। स्थान नैकट्य की दृष्टि से राजस्थानी, गुजराती, मराठी, हिन्दी, बंगला आदि एक परिवार की हैं, किंतु मराठी के निकटवर्ती प्रदेश की भाषा तेलगू भिन्न भाषा-परिवार की है, जबकि संस्कृत और जर्मनी भाषायें अतिदूरवर्ती होने पर भी एक ही भाषा-परिवार से संबद्ध हैं।

ऐतिहासिक अध्ययन करते समय विभिन्न भाषाओं में साम्य के अन्वेषणार्थ निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया जाता है—

(क) शब्द-समूह की समानता

(ख) व्याकरण की समानता

(ग) ध्वनि-समूह का साम्य-वैषम्य

(घ) शाखा-प्रशाखा का प्रामुख्य या गौणत्व

(क) शब्द-समूह की समानता

दो भाषाओं के मध्य ऐतिहासिक संबन्ध का अन्वेषण करते समय शब्दों की एकरूपता या तद्रूपता की अपेक्षा समानता से अधिक सहायता

मिलती है। इसका तात्पर्य है कि तत्सम शब्दों की बजाय तद्भव शब्द अधिक उपयोगी होते हैं। उदाहरणतया हिन्दी और संस्कृत के ऐतिहासिक संबन्ध के अन्वेषणार्थ हिन्दी में प्राप्त मीठा, सबद, धुन, खेत, छै तथा नौ जैसे तद्भव शब्दों से ही संस्कृत के साथ ऐतिहासिक संबन्ध की स्थापना की जा सकती है, न कि मिष्ठ, शब्द, ध्वनि, क्षेत्र, षट् तथा नव जैसे तत्सम शब्दों से। किसी भाषा में अन्य भाषा का तत्सम शब्द प्राप्त होने से तो उधार ली गई शब्दावली का परिचय मिलता है, न कि सम्बन्ध का। तदर्थ तो शब्द-समूह की समानता ही उपयोगी है। उधार लिये गये विदेशी शब्दों, जैसे Lantern का लालटेन आदि रूप विकृत है। अतः ऐसे शब्दों से समानता नहीं मानी जाती।

(ख) व्याकरण की समानता

किन्हीं दो भाषाओं में व्याकरण की समानता तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कोई भी भाषा अन्य भाषाओं से एकाधिक शब्द उधार ले सकती है, किन्तु विदेशी भाषा का व्याकरण उधार नहीं लिया जाता। अतः दो भाषाओं के मध्य शब्द-साम्य के साथ-साथ व्याकरणगत साम्य भी मिले तो दोनों के मध्य ऐतिहासिक सम्बन्ध की पुष्टि हो जाती है।

उदाहरणतया संस्कृत के वाक्य में क्रिया पद अन्त में आता है। हिन्दी में भी यही बात है, जैसे—

संस्कृत—रामः पाठशालां जगाम (राम पाठशाला को गया)
हिन्दी—राम पाठशाला गया (,, – ,, – ,,)

किन्तु अंग्रेजी में Ram went to School कहा जाता है, जहां कि कर्त्ता के बाद क्रिया और फिर कर्म आता है।

संस्कृत और हिन्दी के मध्य कारक, कृदन्त, समास, तद्धित और स्त्री-प्रत्ययों की दृष्टि से भी व्याकरणगत बड़ा साम्य है। अतः दोनों भाषाओं के मध्य ऐतिहासिक सम्बन्ध पुष्ट हो जाता है।

(ग) ध्वनिगत साम्य–वैषम्य

दो विदेशी भाषाओं के निकट आने पर ध्वनियों का आदान-

प्रदान हुआ करता है। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के कारण अंग्रेजी के रेल, रेडियो, टेलिविजन, लाइट, मोटर, टेबल, पेंट तथा टिकिट जैसे शब्द हिन्दी में प्रायः यथावत् ले लिए गये हैं, जो ध्वनि साम्य के द्योतक हैं। कुछ विदेशी ध्वनियों को किंचित् परिवर्तन के साथ हिन्दी में ग्रहण किया गया है, जैसे अंग्रेजी के सिग्नल का सिंगल, टाइम का टेम, बॉक्स का बक्सा, या फिर फारसी के कागज़ का कागद, मज़दूर का मजूर, वक्त का बग्त और खसम का खसम आदि। इनमें ध्वनि-वैषम्य भी है। पर इससे अंग्रेजी-हिन्दी या फारसी-हिन्दी के मध्य ऐतिहासिक सम्बन्ध बैठाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इनके मध्य व्याकरगत वैषम्य है।

वस्तुतः विजेता और विजित की भाषायें परस्पर निकट आती हैं और इनमें से एक की प्रबलता दूसरी भाषा को प्रभावित करती है। इससे शब्दों को उधार लेना या ध्वनि को यथावत् ग्रहण करना सम्मिलित है। उदाहरण-तया अंग्रेजी ने हिन्दी के पण्डित को Pundit के रूप में, और योग को Yoga के रूप में ग्रहण कर लिया। उधर हिन्दी ने अंग्रेजी के अनेक शब्दों जैसे रेल आदि को अपना लिया। वैदिक काल में आर्यों ने द्रविड़ों को पराजित किया तो संस्कृत और द्रविड़ भाषायें परस्पर निकट आयीं। जहाँ द्रविड़ों की भाषाओं में संस्कृत के अनेक शब्द गये, वहाँ संस्कृत ने द्रविड़ों की टवर्ग-ध्वनि (Retroflex sound) को, जो कि संस्कृत में पूर्वतः अविद्यमान थी, ग्रहण कर लिया। जिप्सी लोग भारत से यूरोप गये तो उन्होंने शब्दावली तो यूरोप की भाषाओं से ग्रहण कर ली, किंतु व्याकरण एवं कुछ ध्वनियाँ भारतीय ही रक्खीं।

इससे स्पष्ट है कि दो भाषाओं के निकट आने से शब्दों या ध्वनियों का आदान-प्रदान या प्रभाव होता है, किंतु इससे उनका ऐतिहासिक सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। तदर्थ ध्वनि-साम्य को नियमों में घटित करना आवश्यक है। जहाँ वैषम्य हो, वहाँ अपवाद-रूप नियमों की व्यवस्था होनी चाहिए। भारोपीय भाषा-परिवार की विभिन्न भाषाओं में ऐतिहासिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा के लिए ग्रिम-नियम, ग्रासमान-नियम, वर्नर-नियम तथा तालव्य-नियम बनाये गये, जिससे साम्य या अपवाद रूप वैषम्य को निश्चित किया

गया। इसी के फलस्वरूप आर्य-भाषा परिवार का सुव्यवस्थित ऐतिहासिक ढाँचा तैयार किया गया है। उदाहरणतया—

ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	गाथिक	अंग्रेजी	भारोपीय
देक	देकेम्	दश	तहहुम्	टेन	देक्मु
बोडस्	—	गौः	—	काउ	गोडस्

(घ) शाखा-प्रशाखाओं का प्राधान्य तथा गौणत्व

कभी-कभी एक भाषा की अनेक शाखायें तथा प्रशाखायें हो जाती हैं। इनमें से कोई भी शाखा या प्रशाखा किसी भी अन्य शाखा को दबाकर प्रधान हो जाती है या फिर किसी से दबकर गौण हो जाती है। उदाहरणतया भारोपीय भाषा मे संस्कृत, ग्रीक व जर्मन आदि शाखायें निकलीं। इनमें सर्वप्रथम संस्कृत भाषा प्रधान रही। कालान्तर में संस्कृतज्ञ आर्यों के भारत में बस जाने पर यूरोप में ग्रीक तथा जर्मन भाषायें, जो संस्कृत के समक्ष गौण थीं, प्रमुख हो गईं। भारत में भी संस्कृत की प्रधानता शनैः शनैः प्राकृत के समक्ष और फिर अपभ्रंश के सामने कम होती गई और आज तक हिन्दी जैसी प्रशाखा ही भारत में सर्व-प्रधान है। उधर यूरोप में भी अंग्रेजी जैसी प्रशाखा तो यूरोप की ही नहीं, विश्व की सर्वप्रमुख भाषा हो गई है।

इस आधार पर यह ज्ञात करना आवश्यक है कि किसी भी भाषा-परिवार का वंश-वृक्ष कैसा है। उसमें मुख्य भाग या तना कौन-सा है और उसकी प्रमुख शाखायें या फिर प्रशाखायें कौन-सी हैं। इसी से पता लग सकता है कि कोई भी दो भाषायें ऐतिहासिक रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं या नहीं।

इसी अध्ययन से पता लग सकता है कि विश्व में कुल भाषा-परिवार कितने हैं और उनकी गणना के बाद यह निर्धारण भी किया जा सकता है कि इन परिवारों के वक्ता विश्व में कभी एक स्थान पर रहते थे या भिन्न-भिन्न स्थानों पर ही रहते आये थे। सृष्टि के आरम्भ और भाषा के आरम्भ से जुड़े संश्लिष्ट प्रश्नों का समाधान भी तभी हो सकता है।

विश्व में भाषा-परिवारों को चार चक्रों में विभक्त किया जाता है—

(1) अमरीकी भाषा-परिवार

(2) अफ्रीकी भाषा-परिवार

(3) प्रशांत महासागरस्थ द्वीपों के भाषा-परिवार

(4) यूरोप-एशिया के भाषा-परिवार

1. अमरीकी भाषा-परिवार

कोलंबस द्वारा अमरीका की खोज करने पर वहाँ के मूल निवासियों का पता चला। उन्हें इंडियन या रेड इंडियन कहा जाता है। पहले इनकी संख्या कई करोड़ रही होगी, किंतु अब इनकी संख्या लगातार घटती जा रही है। इनकी भाषाओं की संख्या भी काफी बड़ी है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

		भाषा-नाम
उत्तरी अमरीका	ग्रीनलैंड	एस्किमो
	कनाडा	अथबस्की
	संयुक्त राज्य अमरीका	अलगोनकिन
	मैक्सिको	नहुअतल (प्राचीन) अज्तेक (आधुनिक)
	युकतन	मय
	उत्तरी प्रदेश	करीब, अरोवक
	मध्य प्रदेश	गुअर्नी, तुर्पी
	पश्चिमी प्रदेश (पेरू तथा चिली)	अरोकन, कुइचुआ
	दक्षिणी प्रदेश	चको, तियरा देल, फूगो

2. अफ्रीकी भाषा-परिवार

अफ्रीका महाद्वीप में प्रमुखतया चार भाषा-परिवार हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(क) बुश-परिवार
(ख) बांटू-परिवार
(ग) सूडान-परिवार
(घ) सामी-हामी परिवार

(क) अफ्रीका के मूल निवासियों की भाषायें बुश-परिवार के अंतर्गत परिगणीय है। कहीं-कहीं ये भाषायें सूडान परिवार तथा बांटू परिवार से मिलती हैं। होटेंटाट भाषायें भी इसी परिवार में आती हैं।

(ख) बांटू परिवार की भाषायें सामान्यतः उन प्रदेशों में प्रचलित हैं, जो भूमध्य-रेखा से दक्षिण दिशा में स्थित हैं। इनकी संस्था 150 के करीब है, जो तीन समूहों में विभक्त हैं, पूर्व में काफिर-जुलू, मध्य में सेसुतो और पश्चिम में कांगो।

(ग) सूडान-परिवार की भाषायें भूमध्य-रेखा के उत्तरी प्रदेशों में प्रचलित हैं। इसमें चार समूह हैं, सेनेगल, ईव, मध्य अफ्रीका समूह और नील नदी से ऊपरी हिस्से का समूह। सूडान एवं बांटू परिवार में समानता भी उपलब्ध है।

(घ) सामी-हामी-परिवार में सामी भाषाओं की उत्पत्ति हज़रत नौह के ज्येष्ठ पुत्र सेम से मानी जाती है। इन्हें अरब, अतिसीया और सीरिया निवासियों का आदि पुरुष कहा जाता है। प्रारंभ में यहूदी लोग इन्हीं के भाई-बन्धु थे। ये भाषायें एशिया में बोली जाती हैं। इनमें अक्कदी, अरबी, यहूदी, हब्शी, तुर्की, मंगोली प्रमुख हैं।

सेम के अनुज हैम से हामी भाषा-परिवार की उत्पत्ति मानी जाती है। हैम को मिस्री, फोनिशियन, इथियोपियन तथा कन्नानाइट आदि का आदि-पुरुष कहा जाता है। हामी भाषायें उत्तरी अफ्रीका के सभी प्रदेशों में बोली जाती हैं। इनमें मिस्री तथा काप्टी प्रमुख हैं।

3. प्रशान्त महासागरीय द्वीपों के भाषा-परिवार

इन भाषा-परिवारों को पांच विभागों में विभक्त किया गया है—

(क) मलाया-परिवार (इंडोनेशिया-परिवार)

(ख) मलेनेशिया-परिवार

(ग) पॉलीनेशिया-परिवार

(घ) पापुआ-परिवार

(च) आस्ट्रेलिया-परिवार

संक्षेप में इन पांचों को आस्ट्रोनेशिया-परिवार भी कहा जाता है।

मलाया-परिवार की भाषाओं में मलाया (मलाया-सुमात्रा में), जावी (अधिकांश जावा में), सुन्दियन (शेष जावा में), टगल (फिलिपाइन में), फारमोसी (फ़ारमोसा में) और मलयासी (मडागास्कर में) प्रमुख हैं।

मलेनेशिया-परिवार की भाषायें प्रशांत महासागर के विस्तृत जलसमूह के मध्य स्थित फिजी आदि विभिन्न द्वीपों में प्रचलित हैं।

पालीनेशिया-परिवार में न्यूजीलैंड की माओरी तथा टोंगी, समोअई और हवाई द्वीप की भाषा प्रमुख है।

पापुआ-परिवार की भाषायें न्यू गिनी आदि लघु द्वीपों में प्रचलित हैं, जिनमें न्यू गिनी की मफ़ोर प्रमुख है।

आस्ट्रेलिया-परिवार की भाषायें वहां के मूल निवासी बोलते हैं। इनमें से टस्मेनिया तो लुप्त हो गई है। मूल-निवासियों की संख्या में निरन्तर ह्रास होने के कारण इस परिवार की भाषायें भी लुप्त होती जा रही हैं।

आर्येतर भारतीय-परिवार

भारत में आर्य भाषाओं के अतिरिक्त द्रविड़, मुण्डा तथा तिब्बती-चीनी परिवार की अनेक भाषायें बोली जाती हैं। द्रविड़ परिवार की तमिल, तेलगू,

कन्नड़ और मलयालम भाषायें दक्षिण भारत में और तिब्बती-चीनी परिवार की भाषायें सिक्किम तथा नागालैंड में प्रचलित हैं। भारत में रहने वाले तिब्बती लोग तिब्बती भाषा भी बोलते हैं। मुण्डा भाषायें छोटा नागपुर प्रदेश में बोली जाती हैं।

चीनी भाषा-परिवार

वर्तमान में इस परिवार की भाषायें चीन, कंबोडिया, थाइलैंड, तिब्बत एवं बर्मा में प्रचलित हैं। ये भाषायें करोड़ों या इससे भी अधिक लोगों द्वारा बोली जाती हैं। चीनी भाषा का साहित्य सहस्रों वर्ष पुराना है। इसकी लिपि भी पुरानी है, जो ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाती है। चीनी भाषा में प्रत्येक शब्द के लिए एक पृथक् संकेत है। यह एकाक्षर भाषा है और इसमें व्याकरण का अभाव है।

विविध भाषा समुदाय

उपर्युक्त भाषा परिवारों के अतिरिक्त कुछ और भी प्राचीन तथा नवीन भाषायें हैं, जो इनमें परिगणित नहीं हैं। इनमें सुमेरी (हड़प्पा-मोहेंजोदड़ा की), भिलानी (फ़राद के उत्तरी तट की), जापानी (जापान की), कोरियाई (कोरिया की) और बास्क (यूरोप में पिरेनीज के निकट की) भाषायें उल्लेखनीय हैं।

आर्य भाषा-परिवार

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के कारण ही यह ज्ञात हो सका था कि संस्कृत, ईरानी तथा यूरोपीय भाषाओं के मध्य अनेकविध साम्य है। इसके आधार पर इनसे पूर्ववर्ती एक अज्ञात भाषा की कल्पना की गई, जिससे संस्कृत आदि सभी भाषाओं का उद्‌गम माना गया। इस कल्पित भाषा को सर्वप्रथम तो "इण्डो-जर्मनिक" कहा गया और फिर इण्डो-कैल्टिक। किन्तु अन्त में इसे आर्य-भाषा की संज्ञा देते हुए इसे इंडो-यूरोपियन (Indo-Europion) या भारोपीय कहा जाने लगा।

भारोपीय (भारत-यूरोपीय का संक्षिप्त रूप) भाषा की कल्पना के आधार वे प्राचीन लेख हैं, जो संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा अवेस्ता भाषाओं में उपलब्ध हैं, जैसे—

इतावली	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	अंगरेजी	जर्मन	ईरानी
—	पितर	पतेर्	पतेर्	फ़ॉदर	—	—
—	वीर	—	उईर्	—	वेर	—
केन्टुम्	शतम्	हेकटोन्	—	हंड्रेड	—	सतम्

इससे अनुमान लगाया गया कि आदिम भाषा अर्थात् भारोपीय भाषा में प् ध्वनि रही होगी, जो जर्मन समूह की भाषाओं में फ् हो गई। इसी प्रकार भारोपीय से उदभूत कुछ भाषाओं में श् या स् ध्वनि होने और कुछ में इसके स्थान पर क् ध्वनि मिलने से अनुमान लगाया गया कि भारोपीय भाषा में "क्" ध्वनि रही होगी। इससे उद्‌भूत भाषाओं को दो समूहों में विभक्त कर दिया गया। एक तो "शतम्" और द्वितीय "केंटुम्" समूह। संस्कृत स्लावी, बाल्टी, ईरानी तथा अलबानी भाषायें तो "शतम्" समूह में प्रमुख हैं, जबकि "केंटुम्" के अन्तर्गत लैटिन, जर्मन, कैल्टी, इटालवी, ग्रीक; हिट्टाइट तथा तोखारी भाषा प्रमुखतया परिगणनीय हैं। प्रारम्भ में केंटुम्

को भारोपीय की पश्चिमी शाखा और संस्कृत व ईरानी को पूर्वी शाखा समझा गया, किन्तु बाद में मध्य एशिया की तोखारी भाषा को पूर्वी प्रदेश में होते हुए भी केंटुम् समूह में गिना गया, क्योंकि उसमें कवर्ग की प्रथम श्रेणी संघर्षी वर्णों में परिणत हो जाती है। इस आधार पर भारोपीय की पूर्वी या पश्चिमी शाखा आदि शाखा-सम्बन्धी धारणा निरस्त हो गई।

भाषा-विकास के नियम

भारोपीय भाषा से उद्भूत भाषाओं में उपलब्ध विभिन्न ध्वनियों के विकास-क्रम का अध्ययन करके ग्रिम नामक विद्वान् ने भारोपीय से जर्मन भाषा का विकास इस प्रकार निश्चित किया है—

भारोपीय भाषा	जर्मन भाषा
(क) क् त् प्	ख् (ह्), थ् फ्
(ख) ग्, द्, ब्	क्, त्, प्
(ग) घ्, ध्, भ्	ग्, द्, ब्

इस ग्रिम-नियम के उदाहरण इस प्रकार हैं—

भारोपीय	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथीक	अंगरेजी
त्रयेस्	त्रि	त्रेइस	त्रेस	थ्रेइस्	थ्री
पोद	पाद्	पोड्स	पेस	फोटुस्	फुट्
देक	दश	डेक	डेकेम	तइहुन्	टैन
घनस्	हंस	खेस्	अनसेर्	गन्स्	गूज़
भेरो	भरा-मि	फेरो	फ़ेरो	बदूर	बेयर

ग्रासमान–नियम

ग्रिम-नियम के कुछ अपवाद भी मिलते हैं, जिसका समाधान हर्मन ग्रैसमन, जो कि संस्कृत एवं ग्रीक भाषा के बड़े विद्वान् थे, ने इस रूप में किया है कि यदि भारोपीय भाषा में धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों

पर महाप्राण ध्वनि थी, तो संस्कृत तथा ग्रीक भाषा में एक महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण कर दिया जाता था, जैसे—

भारोपीय	**संस्कृत**	**गाथीक**
भेउध्	बोध्	बिउद्
भेन्ध्	बन्ध्	बाइन्द
धोभ्	दभ्	दाब्स

वर्नर–नियम

ग्रिम-नियम के अनुसार भारोपीय क्, त्, प् के स्थान पर जर्मन भाषा में ख्, थ्, फ् होना चाहिए, किन्तु कई स्थानों पर ग्, द्, ब् मिलता है। इन अपवादों का समाधान कार्ल-वर्नर नामक विद्वान् ने इस रूप में किया है कि यदि इन ध्वनियों से पूर्ववर्ती अन्तःस्थ वर्ण पर सुर हो तो ग्रिम-नियम लगेगा और क्, त्, प् के स्थान पर ग्, द्, ब् होगा। इसे वर्नर-नियम कहा जाता है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

भारोपीय	**संस्कृत**	**ग्रीक**	**लैटिन**	**गाथी**	**अंगरेजी**
युव्नक'स्	युवशः'		युवेन्कुस्	युग्-स	यंग
क्मुतो'म्	शतम्		केन्टुम्	हुन्द्	हंड्रेड
—	लिम्पामि	लिप्रेयो	लिप्पुस्	बिलाइब्	बेलाइफ़
सेप्तुन्	सप्त	सेप्त	सेप्टेम्	सिबुन्	सेवेन्
—	स्नुषा	नूडस्	नूरूस्	—	स्नोस

इस प्रकार ग्रिम, ग्रासमान तथा वर्नर द्वारा प्रतिपादित विकास को जर्मन भाषा का **प्रथम ध्वनि परिवर्तन** कहा जाता है। यह परिवर्तन ईसा-पूर्व शताब्दियों में हो चुका था। द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन छठी शताब्दी में प्रारम्भ होकर आठवीं शताब्दी में पूर्ण हुआ।

द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन

जर्मन समूह की बोलियों को दो विभागों में रक्खा गया है, हाइ

(उच्च) जर्मन और लोड (निम्न) जर्मन। पर्वतीय तथा दक्षिण प्रदेश की बोली को हाइ जर्मन और उत्तरी प्रदेश की बोली को प्रादेशिक कम ऊँचाई के कारण लोड (निम्न) जर्मन कहा जाता है।

यदि प्राचीन जर्मन के प्, ट्, क् दो स्वरों के मध्य में या शब्द के अन्त में किसी स्वर के बाद हों तो उच्च जर्मन में इनके स्थान पर क्रमशः फ् (पफ्), स् (स्स्) तथा ह्‌ह् (ख् व्) हो जाता है। निम्न जर्मन तथा अंग्रेजी में, जो इस द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन से पूर्व ही ब्रिटेन में बोली जाने लगी थी, यह परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणतया—

उच्च जर्मन	श्लैफ़ेन	लैसेन्	जाइखेन्
अंग्रेजी	स्लीप्	लेट	टोकेन्

इसी प्रकार प्राचीन जर्मन के शब्द के आदि में या फिर व्यंजन के पश्चात् प्, ट्, क् हो तो उच्च जर्मन में प्प्, ट्स्, (ज्) तथा क्ख हो जाता है, किन्तु निम्न जर्मन तथा अंग्रेजी में ऐसा नहीं होता। उदाहरणतया—

उच्च जर्मन	प्फुड्	जेहन्	ख्निउ
अंग्रेजी	पाउड	टेन्	नी (क्नी)

इन नियमों से विभिन्न भारोपीय परिवार की भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। केंतुम् तथा शतम् समुदाय की और इसी प्रकार भारत-ईरानी जैसे उत्तरकालीन वर्ग की भाषाओं के नैकट्य को समझने के लिए भी उपर्युक्त नियमों का ज्ञान बड़ा सहायक है।

आर्य लोगों के ईरान छोड़कर भारत की ओर प्रस्थान करने के बाद भारत-ईरानी वर्ग पूर्णतया दो भागों में विभक्त हो गया। किन्तु दोनों के मध्य कुछ समय तक सम्पर्क बने रहने के कारण दोनों भाषाओं में साम्य भी बना रहा। यही कारण है कि भारत की वैदिक भाषा एवं ईरान की अवेस्ता में प्रयुक्त भाषा बहुत अंशों में समान है।

भारत में आर्यों के स्थायी रूप से बस जाने और विभिन्न भारतीय प्रदेशों में फैल जाने के कारण वैदिक संस्कृत भी अपने पूर्वतर रूप को सुरक्षित नहीं रख सकी और उसमे विकास के अनेक चरण परिलक्षित होने लगे। लौकिक संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाएँ उसी वैदिक संस्कृत से उद्भूत हैं। आधुनिक भारतीय भाषायें तो अपभ्रंश के ही विकसित रूप हैं।

आर्य-भाषा

आर्य लोग भारत में 1000 ई. पूर्व तक पूर्णतः बस चुके थे, क्योंकि ऋग्वेदादि का प्रभूत अंश तब तक अवश्य लिखा जा चुका था। ये आर्य प्रारम्भ में पंजाब प्रान्त में बसे थे, इसका प्रमाण वैदिक सूक्तों में पाँच नदियों अर्थात् वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाब), परुष्णी (रावी) विपाशा (व्यास) तथा शुतुद्री (शतलज) के उल्लेख से प्राप्त होता है। किन्तु सरस्वती (जो सरसुती तथा यमुना के मध्य बहती थी) नदी के आसपास के क्षेत्र में आर्यों का इतिहास अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। यहाँ अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ घटीं। यहीं वैदिक कर्मकाण्ड का प्रारम्भ हुआ और यहीं कला एवं साहित्य विकसित हुआ। समृद्धि के चरण भी यहीं से प्रारम्भ हुए। यही प्रदेश ब्रह्मावर्त था।

बाद में इन आर्यों ने भारत के पूर्व, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ना शुरू किया। कुरु, मत्स्य, पाञ्चाल तथा शूरसेनक प्रदेशों तक के भू-भाग को ब्रह्मर्षि-देश कहा गया। हिमालय तथा विन्ध्याचल पर्वतों के मध्य एवं विनशन तक के भू-भाग को मध्य देश कहा गया और जब आर्य लोग समुद्र-तट तक जा पहुँचे तो संपूर्ण भूभाग को आर्यावर्त की संज्ञा दी गई।

आर्यों के इस प्रसार के कारण आर्य-भाषा में भी कुछ परिवर्तन होता रहा। पूर्वी भारत की ओर प्रसृत आर्यों की भाषा में इतना अधिक परिवर्तन नहीं हुआ, जितना कि दक्षिण भारत की ओर गये हुए आर्यों की भाषा में। इसका कारण यही है कि दक्षिण भारत में आर्यों को आर्येतर भाषा-परिवार के साथ संपर्क के कारण आर्येतर शब्दों को और ध्वनियों को सीखना पड़ा

और अपनी भाषा में इन्हें अपनाने के कारण आर्य-भाषा शनैः शनैः विकसित होती गई। यही कारण है कि पूर्वी भारत की बंगला प्रभृति भाषाओं में जितने तत्सम शब्द मिलते हैं, उतने दक्षिण तथा उत्तर भारत की भाषाओं में नहीं।

वैदिक संस्कृत का वैशिष्ट्य

(1) मूल भारोपीय भाषा के इ, ओ तथा अ स्वर वैदिक संस्कृत में केवल "अ" बनकर रह गये, जैसे—

	संस्कृत	लैटिन	ग्रीक		लिथुआनिअन
इ =	शकते	Sequitur			Seku
	हारः	—	theros	=	gwheros
ओ =	कतरः	—	Poteros		
	घनः	—	Phonos		gwhono
अ =	अप	Ab	Apo		
	अजामि	—	Ago		

(2) भारोपीय भाषा का ए तथा म् जैसा सघोष स्वर (Sonant Vowle) संस्कृत में अ बन जाता है—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक
अज्ञातः	ignotus	—
मातः	—	Matos

(3) भारोपीय ई, ओ तथा आ के स्थान पर संस्कृत में केवल आ हो जाता है, जैसे—

	संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	अंग्रेजी
ई –	जानि	—	—	queen
	मा (निषेधार्थक)	मी	मी	—

ओ –	दानम्	donum		
	गाम्	—	ton, gwom	—
आ –	भ्राता	—	phrater	
	माता	mater	—	

(4) भारोपीय के य् तथा व् दो व्यंजनों के मध्य इ तथा उ हो जाते हैं। संस्कृत के इ तथा उ का मूल इन दोनों में खोजा जा सकता है, जैसे—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	गोथिक
दिष्ट	dictus	—	—
इदम्	idem	—	ita
शुनः	—	Kunos	—
श्रुत	—	Klutos	—
युगम्	jugum	—	—

(5) संस्कृत के ए तथा ओ सदा दीर्घ होते हैं। इनका मूल भारोपीय के ei, oi, ai और इसी प्रकार eu, ou एवं au में ढूँढा जा सकता है, जैसे—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	गोथिक	अंग्रेजी
एति	it	eisi	—	—
वेद	—	(w) oide	wait	wit
देवः	deus	—	—	—
बोधति	—	peuthetai	—	—

(6) संस्कृत के ऐ तथा औ का मूल भारोपीय के ei, oi, ai और eu, ou एवं ai में देखा जा सकता है। ये भारत-ईरानी स्तर पर ai तथा au बने थे, किंतु वैदिक संस्कृत में ये ऐ तथा औ बन गये, जैसे—

संस्कृत	भारोपीय
रैः	ei
द्यौः	eu

वैदिक व्यञ्जन

(1) संस्कृत के दन्त्य तथा ओष्ठ्य वर्ण का मूल भारोपीय के दन्त्य तथा ओष्ठ्य वर्ण ही थे, जैसे—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक	अंगरेजी
तनुः	tenuis	—	—
पतामि	peto	petomai	—
धर्षामि	—	tharsos	of. dare
मधु	—	—	of. mead
पिबामि	bibo	—	—
भरामि	fero	—	—

(2) संस्कृत के कण्ठ्यस्थ तथा तालव्य वर्णों पर एक साथ विचार किया जाता है, क्योंकि मूल भारोपीय की पश्च-ध्वनियों का संस्कृत में विशिष्ट रूप दिखाई देता है, जैसे—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक
कतरः	—	poteros
रोकः	lucem	leukos
चिद्	quid	—
रिरेच	—	leloipe
गुरुः	gravis	barus
घ्नन्ति	—	epephon
हर्म्य	—	thermos

जहाँ तक ख्, छ्, थ् तथा फ् ध्वनियों का प्रश्न है, भारोपीय में इन ध्वनियों तथा इनसे सम्बन्धित अल्पप्राण ध्वनियों के मध्य कोई भेद नहीं है। स्वयं संस्कृत में भी ये महाप्राण ध्वनियाँ विरल हैं।

संस्कृत के अनुनासिक (NASALS)

संस्कृत में पाँच अनुनासिक हैं, ङ्, ञ्, ण्, न् व म् । इनमें से म् तथा न् का मूल तो भारोपीय के म् तथा न् में मिल जाता है, जैसे—

संस्कृत	लैटिन
नामन्	nomen इत्यादि

इस आधार पर ङ्, ञ् तथा ण् को न् ध्वनि का ही स्थित्यात्मक विकास माना जा सकता है ।

संस्कृत के ऊष्म वर्ण (SIBILANTS)

संस्कृत में तीन ऊष्म वर्ण हैं, श्, ष् तथा स् । इनमें से श् तो मूल भारोपीय तालव्य वर्ण क् का ही विकसित रूप है, जैसे—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक
श्वा	Canis	Kuon
वेश:	Vicus	oikos

संस्कृत के स् तथा ष् का मूल भारोपीय के एकमात्र ऊष्म स् में मिलता है । क्, र्, इ तथा उ के बाद यह भारोपीय स् संस्कृत में ष् हो जाता है, जैसे—

संस्कृत	ग्रीक	अंग्रेजी
तृष्यति	torsomai	—
उक्षन्	—	ox(oks)
स्नुषा	nuos	—

संस्कृत के य्, व्, र् तथा ल्

भारोपीय के सघोष य्, व्, र् तथा ल् मूलत: स्वर भी हैं और व्यंजन भी । किंतु संस्कृत में य् तथा व् मूल भारोपीय य् तथा व् ध्वनियों के वंशज हैं, जैसे—

संस्कृत	लैटिन	लिथुम्रानिम्रन
यकृत्	iecur	—
मध्यः	medius	—
श्रवति	—	srava

इसी प्रकार भारोपीय का र् संस्कृत में भी र् बनता है, किंतु भारोपीय का ल् संस्कृत में र् तथा ल् दोनों ही रूपों में मिलता है। वस्तुतः भारोपीय का ल् वैदिक संस्कृत में र् बन जाता है। इस ग्राधार पर वैदिक संस्कृत को रकारात्मक बोली ग्रौर लौकिक संस्कृत को लकारात्मक बोली माना जाता है। उदाहरणतया—

संस्कृत	लैटिन	ग्रीक
रुधिर	ruber	eruthros
वैदिक रेह्मि लौकिक लेह्मि	linquo	leigo

संस्कृत की मूर्धन्य ध्वनियाँ (CEREBRALS)

ऋग्वेद तथा ग्रवेस्ता की भाषाग्रों में मुख्य भेद यही है कि ऋग्वेद में मूर्धन्य ध्वनि भी मिलती है, जो कि भारोपीय परिवार की किसी भी भाषा में ग्रनुपलब्ध है। इसका कारण है, संस्कृत पर द्रविड़ ध्वनियों का प्रभाव। संस्कृत से प्राकृत या ग्रपभ्रंश तक ग्राते तो मूर्धन्य ध्वनियाँ प्रभूत मात्रा में मिलती हैं। ये ध्वनियाँ ग्रार्येतर जनों से संबंधित थीं, जिन्हें ग्रार्य लोए "मृध्र-वाचः" कहते हैं।

वेदोत्तर संस्कृत

ऋग्वेद के सूक्तों में भाषा-भेद का पता चलता है। प्रथम एवं दशम मण्डल की भाषा ग्रन्य मण्डलों की भाषा से कुछ ग्रर्वाचीन प्रतीत होती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों तथा सूत्र-ग्रन्थों की भाषा में भी क्रमिक विकास दिखाई देता है। पाणिनि के समय तक तो वैदिक भाषा (छन्दस्) एवं साधा-

रण जन-भाषा में पर्याप्त अन्तर आ गया था। पाणिनि ने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का भी उल्लेख किया है। बुद्ध के समय भाषा को उदीच्य, प्राच्य तथा मध्य-देशीय के रूप में विभक्त कर दिया गया था, किंतु पाणिनि ने उदीच्य भाषा को प्रश्रय देकर बोलियों के भेद को मिटाने का सर्वाधिक सफल प्रयास किया था। कात्यायन एवं पतंजलि ने शेष कार्य को पूरा किया।

प्राच्य प्रभाव के कारण संस्कृत का प्रभाव कुछ कम हो गया था, किंतु मौर्य साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर संस्कृत ने पुनः आधिपत्य जमा लिया। संस्कृत का प्रथम शिलालेख रुद्रदामन् का गिरनार-स्थित है, जिसका समय 150 ई. है। बारहवीं सदी तक हिन्दू राज्यों की राजभाषा संस्कृत ही रही।

संस्कृत का प्रभाव प्राकृत तथा उत्तर कालीन मध्ययुग की भाषाओं पर पड़ा। प्राकृत तथा आधुनिक भाषाओं ने संस्कृत के शब्दों को अनायास ग्रहण किया। भारत से बाहर चीन, तिब्बत, हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा, बाली, कोरिया और जापान तक संस्कृत का प्रभाव फैला। आर्य इसे देव-वाणी कहते आये हैं और आज भी करोड़ों भारतीय इसे पवित्र भाषा का श्रेय देते हैं।

वैदिक साहित्य की सुरक्षा के लिए पद-पाठ, क्रमपाठ, घनपाठ तथा जटापाठ का प्रश्रय लिया गया। भावगरिमा की रक्षा के लिए सूत्र-शैली अपनाई गई। उणादि-सूत्रों द्वारा विदेशी भाषाओं अथवा आर्येतर भाषाओं के शब्दों को संस्कृत में अपना लिया गया।

आर्य भाषा मूलतः श्लिष्ट यौगिक प्रकृति की थी, किंतु आर्येतर भाषाओं के सम्पर्क व प्रभाव के कारण संस्कृत की श्लिष्ट अवस्था उत्तरोत्तर कम होती गई। आर्यों के उच्चारण पर भी इसका प्रभाव पड़ा। आर्यभाषाओं में मूर्धन्य वर्ण कहीं नहीं था, किंतु भारतीय आर्यों ने द्रविड़ भाषाओं के संपर्कादि से इसे अपना लिया। संस्कृत में ट वर्ग की विद्यमानता इसका प्रमाण है। वस्तुतः दन्त्य ध्वनियों से ही मूर्धन्य ध्वनियों का विकास माना जाता है।

मध्य युग तक आते-आते संस्कृत के द्विवचन तथा आत्मनेपद धातु

रूपों में ह्रास आने लगा। षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति का पारस्परिक विनिमय, लुट्, लृङ् तथा(परोक्षभूत) का अभाव, विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् का ऐकात्म्य आदि का दर्शन मध्ययुगीन संस्कृत भाषा की विशेषता कही जा सकती है। इसी युग में ऋ व लृ के स्थान पर रि व लि का प्रयोग, ऐ, तथा औ के स्थान पर ए व ओ का और अधिकाशतः ताव्लय के स्थान पर दन्त्य प्रयोग प्रारम्भ हो गये। विसर्ग का अभाव भी यहीं से शुरू हुआ।

पालि भाषा

संस्कृत के आदि काल में प्राच्य क्षेत्र का बड़ा प्रभाव था। भगवान् बुद्ध ने आर्येतर भाषा में स्वकीय उपदेश दिये थे। यह भाषा पालि कहलाती है। भगवान् महावीर ने भी स्वकीय उपदेशों के लिए आर्येत्तर भाषा को अपनाया था। यह भाषा प्राकृत कहलाती है। इससे अनुमान होता है कि उस समय लोक सामान्य की भाषा संस्कृत-सम होते हुए भी कुछ भिन्न थी। यह एक ऐसा सन्धिकाल था, जब साधारण-जन संस्कृत, प्राकृत एवं पालि इन तीनों भाषाओं को समझता था।

पालि को सिंहल द्वीपी मागधी कहते हैं। पालि के ग्रन्थों में भी भाषा के लिए मागधी शब्द प्रयुक्त हुआ है, जबकि मूल पाठ को टीका से भिन्न मान कर पालि कहा गया है। वस्तुतः मागधी शब्द का प्रयोग मागधी प्राकृत के अर्थ में ही किया जाना उचित है।

पालि किस प्रान्त की भाषा थी, यह विवाद का विषय है। जहाँ तक इसके गठन का विषय है, यह मध्यप्रदेश अर्थात् पश्चिमी प्रदेश की भाषा प्रतीत होती है। यह सम्भव है कि भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश किसी प्राच्य भाषा में दिये होंगे, किन्तु उनके निर्वाण के सौ दो सौ वर्ष बाद उनके ग्रन्थों का अनुवाद किसी मध्यदेशीय भाषा में किया गया। यह भाषा संस्कृत की तरह विशिष्ट मानदण्ड प्राप्त कर चुकी थी। अशोकी प्राकृत से तुलना करने पर पालि ग्रन्थों की भाषा बुद्धकालीन नहीं, बल्कि अशोककालीन ज्ञात होती है।

बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थ, टीकायें तथा संबद्ध साहित्य पालि भाषा में उपलब्ध हैं। सिंहल, बर्मा, थाईलैंड व इण्डोचाइना में पालि का गौरव वैसा ही है, जैसा भारत में संस्कृत का।

पालि का विकास लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत से हुआ होगा। तृतीया बहुवचन में एभिः तथा प्रथमा बहुवचन में आसः का प्रयोग धातु और धात्वादेश (जैसे गम् का गच्छ् होना) में भेद का अभाव और अडागम का अभाव (जैसे हसि–अहसीत्) आदि से यह स्पष्ट है। संस्कृत के 'इह' के स्थान पर 'इध' का प्रयोग वैदिक-पूर्व भाषा का अवशेष प्रतीत होता है।

पालि में एक ही शब्द के अनेक रूप मिलते हैं, किंतु मूल में भाषा एक ही है। श् का अभाव और दन्त्य स् की विद्यमानता और र् का ल् से अन्तर आदि को देखकर यह भाषा पश्चिमी सी लगती है।

प्राकृत भाषा

सम्राट् अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए स्तम्भ आदि पर स्थान-स्थान पर लेख उत्कीर्ण करवाये थे। ये शिलालेख 262–250 ई. पू. के हैं। समष्टि रूप से इनकी भाषा अशोकी प्राकृत है। राजधानी से भले ही अर्ध-मागधी के रूप में किसी भाषा में आदेश भेजे जाते होंगे, किन्तु प्रदेश-विशेष में स्वकीय बोली के अनुरूप परिवर्तन अवश्य किये जाते थे। दूरी की अधिकता से परिवर्तन भी अधिक हुए।

अशोक के शिला-लेखों के अतिरिक्त भी कुछ लेख प्राकृत-भाषा में निबद्ध पाये गये हैं, जो प्रायः मध्यकाल के हैं। गोरखपुर जिले में सोहगौरा के लेख को प्रो. सुनीतिकुमार चटर्जी ई. पू. चौथी सदी का मानते हैं।

मध्ययुग में जैन प्राकृत एवं महाराष्ट्री आदि प्राकृत का स्वरूप साहित्यिक समझा जाता है। संयुक्त व्यजनों में केवल स्स्, त्त एवं प्प् बचे हैं। दो स्वरों के बीच के स्पर्श वर्ण का लोप हो जाना इसकी विशेषता है, जैसे "काकः" का "कइ" हो जाना। चतुर्थी का पूर्ण लोप और पंचमी विभक्ति का अल्प प्रयोग भी विशेषतः द्रष्टव्य है। क्रिया-रूपों में अल्पता भी देखी गई है।

जैन प्राकृतों में अर्धमागधी (आर्ष) प्रमुख हैं। इसमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आगम ग्रन्थ समुपलब्ध हैं। जैन-धर्म ग्रन्थों की मौखिकता चतुर्थ शताब्दी ई. पू. समाप्त हो गई और तब इनका संकलन किया गया। इसकी भाषा शौरसेनी तथा मागधी के बीच की अर्थात् अर्ध मागधी है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अन्य साहित्य जैन महाराष्ट्री में और दिगम्बर साहित्य जैन शौरसेनी में उपलब्ध है।

संस्कृत के नाटकों में जो प्राकृत प्रयुक्त हुई है, वह शौरसेनी ही है। इससे अनुमान होता है कि शौरसेनी व्यापक प्रदेशों में बोली जाती थी। अश्वघोष की रचना "सारिपुत्तपकरण" आदि तीन रूपक भी इसी में रचित हैं। शौरसेनी की मुख्य बात तवर्ग का विकास है। दो स्वरों के बीच संस्कृत के त् व थ् क्रमशः द् व ध् हो जाते हैं, किन्तु दो स्वरों के मध्य विद्यमान द् व ध् ध्वनियों में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणतया—

गच्छति	=	गच्छदि
यथा	=	जधा
जलदः	=	जलदो
क्रोधः	=	कोधो

शौरसेनी के बाद महाराष्ट्री प्राकृत का स्थान है। काव्य-कृतियों, विशेषतः गीति-रचनाओं में इसी का प्रयोग हुआ है। संस्कृत नाटकों में गीति-रचना इसी भाषा में हुई है। हाल-रचित "गाहासत्तसई" (गाथा सप्तशती) और प्रवरसेन–रचित "रावणवहो" (सेतुबन्ध) महाराष्ट्री प्राकृत में रचित उत्कृष्ट कृतियाँ हैं।

मागधी प्राकृत जनपद की बोली थी। संस्कृत के नाटकों में अवर-जनों की भाषा यही है। इस मागधी से उस पालि भाषा की कोई समानता नहीं है, जिसे सिंहल द्वीप में मागधी कहा जाता है।

मागधी में संस्कृत के ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् (सप्त–शत्त), र् के स्थान पर ल् (राजा=लाजा), ण् के स्थान पर ञ्ञ् (पुञ्ञ) और प्रथमा एकवचन के ओकार के स्थान पर एकार (देवो=देवे) मिलता है।

पैशाची प्राकृत का महत्त्व इस बात में है कि कभी इसमें विपुल साहित्य था। गुणाढ्य की बृहत्कथा इसी प्राकृत में निबद्ध थी। यह ग्रन्थ तो अनुपलब्ध है, किन्तु बृहत्कथामञ्जरी एवं कथासरित्सागर के रूप में इसके दो अनुवाद अवश्य मिलते हैं। इसकी विशेषता यह है कि संस्कृत के दो स्वरों के मध्यवर्ती सघोष स्पर्श के स्थान पर अघोष हो जाते हैं, जैसे—

गगनं	=	गकनं
मेघो	=	मेखो
राजा	=	राचा
वारिदः	=	वारितो

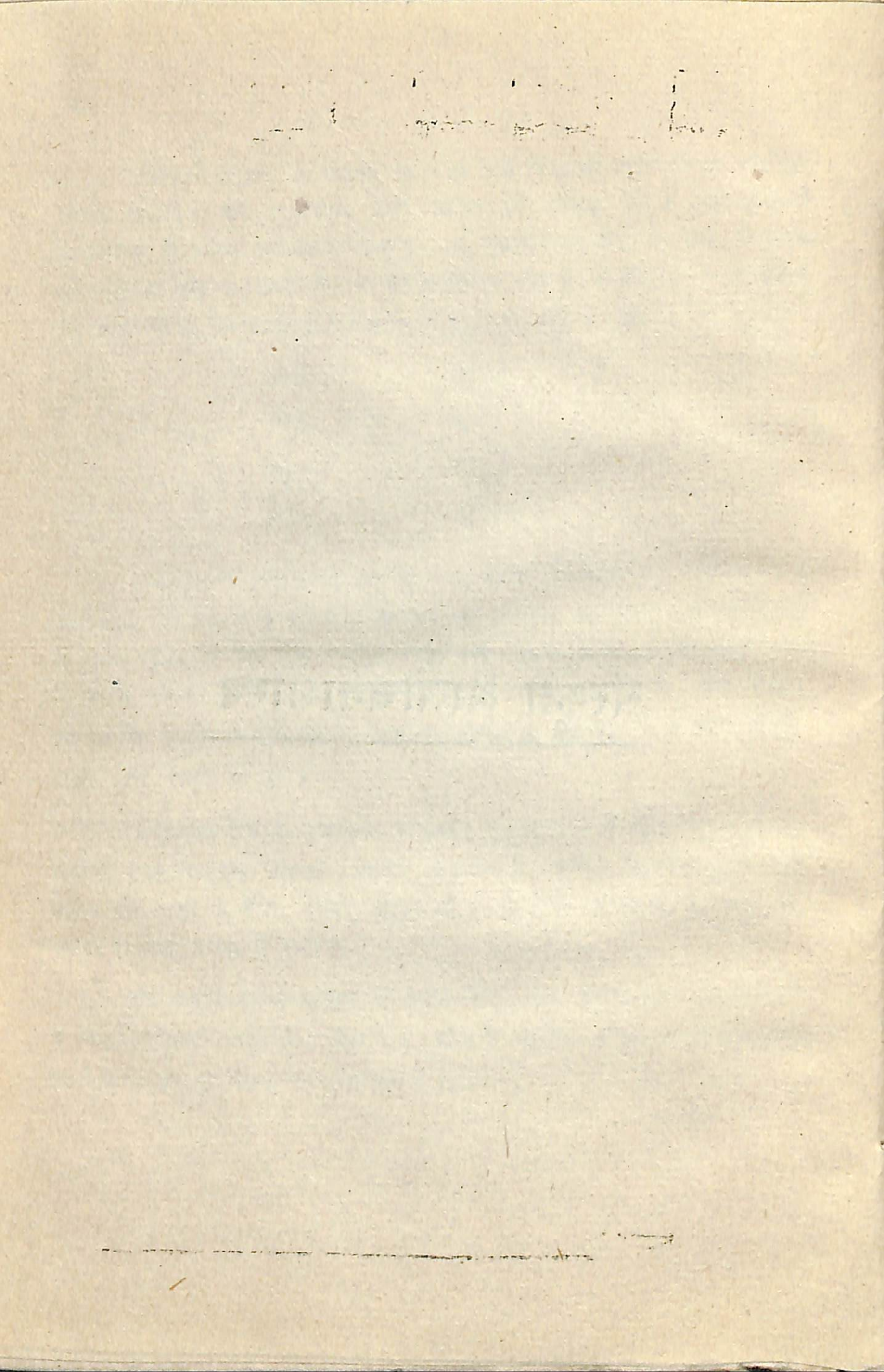
मध्ययुग के उत्तरकाल की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में अपभ्रंश के कुछ पद्य उपलब्ध हैं। दण्डी (सातवीं-सदी) के समय अपभ्रंश का कुछ प्रयोग होने लगा था। आधुनिक भाषाओं यथा हिन्दी व मराठी आदि के प्रयोग से पूर्व तक अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। विद्यापति ठक्कुर ने मैथिली के अतिरिक्त अपभ्रंश (अवहट्ठ) में भी "कीर्तिलता" की रचना की थी।

प्राकृत-सर्वस्व के रचयिता मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के तीन भेद किये हैं, नागर, उपनागर एवं व्राचड़। नागर गुजरात में, व्राचड़ सिन्ध में और उपनागर इन दोनों के बीच बोली जाती थी। इनमें से शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है।

इस प्रकार वैदिक सस्कृत से लेकर आज तक आर्य-भाषा अनेक रूपों में विकसित होती रही है। हिन्दी व मराठी आदि आधुनिक भाषायें इसी आर्य-भाषा का सर्वाधिक वर्तमान रूप हैं।

———

संस्कृत आलोचनाशास्त्र



संस्कृत आलोचनाशास्त्र

किसी भी देश का साहित्य उसका गौरव होता है। महाकवियों, नाटककारों तथा कथालेखकों की रचनाओं में सम्बन्धित देश की आत्मा, महत्ता एवं मूलभूत दृष्टिकोण का साक्षात्कार किया जा सकता है। ऐसी रचनाओं के समन्वित रूप को ही वाङ्मय, साहित्य या काव्य की संज्ञा दी जाती है।

वाङ्मय शब्द से विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, कोष तथा साहित्य आदि समग्र विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों एवं कृतियों का बोध होता है। किन्तु साहित्य शब्द से गद्य, पद्य, नाटक, चम्पू तथा आख्यान एवं गल्प जैसी ललित रचनाओं का संकेत मिलता है। साहित्य के साथ कला एवं संगीत का अत्यधिक साहचर्य अपरिहार्य है, जैसा कि भर्तृहरि की इस उक्ति से प्रमाणित है—

"साहित्य–संगीत–कला–विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ–विषाणहीनः।"

वस्तुतः साहित्य, कला एवं संगीत में रस या आनन्द की अनुभूति कराने की पूर्ण क्षमता होती है, यद्यपि इसके लिए पाठक, श्रोता या दर्शक में सहृदयता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

साहित्य की परिभाषा

संस्कृत व्याकरण के अनुसार सहित के भाव को साहित्य कहा जाता है (सहित + ष्यञ्) —

"सहितस्य भावः साहित्यम्"

इस सहित के दो अर्थ हैं, (1) हित के साथ और (2) एक साथ। हित की व्याख्या इस प्रकार है—"दधातीति हितम्"

यह हित तीन प्रकार का होता है, स्वकीय हित, परकीय हित तथा लोकहित। हित की तीन कोटियाँ भी होती हैं, हित, अतिहित, एवं परम-हित।

इस प्रकार हित से संयुक्त भाव जिस रचना में हो, उसे साहित्य कहा जाता है। शब्दों का सहभाव या संश्लेषण जिस कृति में हो, उसे भी साहित्य की संज्ञा दी जाती है।

साहित्य में काव्य, आत्मकथा तथा संस्मरण व यात्रा आदि अनेक विधाओं का समावेश होता है। आत्मकथा एवं यात्रादि से सम्बन्धित रचनाओं को साहित्य मानने का प्रमुख कारण यही है कि इनमें भी यदा-कदा काव्यतत्त्व की विद्यमानता रहती है, जिससे कभी-कभी काव्योचित आनन्द की अनुभूति हो जाती है। किन्तु इन्हें काव्य नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः साहित्य का प्रमुख रूप काव्य है। कई बार दोनों को पर्याय-वाची मान लिया जाता है। अंग्रेजी का Literature शब्द दोनों में कोई अन्तर नहीं मानता। अंग्रेजी में तो वाङ्मय तथा साहित्य का भेद व्यक्त करने के लिए भी शब्द नहीं है।

काव्य शब्द की व्युत्पत्ति "कव् वर्णने स्तुतिगाने च" धातु से हुई है (बाहुलकाद् ण्यत्, काव्य; टाप् काव्या)। स्वयंभू (ब्रह्मा) के लिए ही सर्व-प्रथम कवि शब्द का प्रयोग हुआ है—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।"

(शुक्ल यजुर्वेद–40/8)

लोक में प्रतिभासम्पन्न रचनाकार को कवि कहा जाता है। भामह ने भी कहा है—

"प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णना-निपुणः कविः। तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।"

साहित्य-परम्परा के अनुसार शुक्राचार्य को कवि तथा वाल्मीकि को आदिकवि कहा जाता है।

काव्य के भेद

अग्निपुराण में काव्य के तीन भेद किये गये हैं—

(1) श्रव्य—महाकाव्य आदि।

(2) अभिनेय (दृश्य)—नाटक आदि।

(3) प्रकीर्ण (पाठ्य)—पत्रादि गद्य रचनायें।

भामह ने सम्पूर्ण साहित्य या काव्य को दो भागों में विभक्त किया है—गद्य व पद्य। फिर संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश ये तीन उपविभाग किये हैं। स्वरूप की दृष्टि से उन्होंने काव्य के पाँच प्रकार गिनाये हैं—

(1) सर्गबन्ध (महाकाव्य)

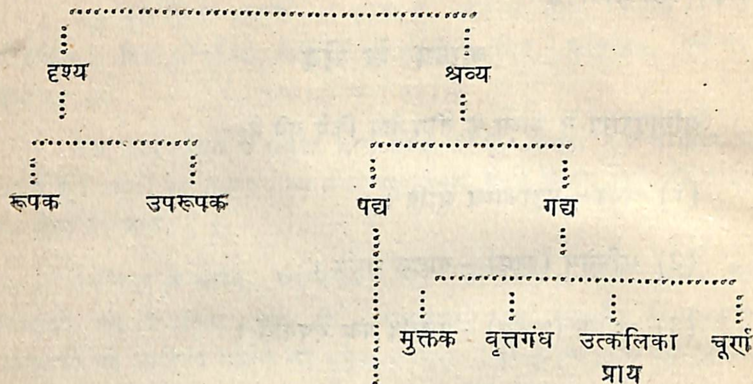
(2) अभिनेयार्थ (नाटक)

(3) आख्यायिका

(4) कथा

(5) अनिबद्ध

दण्डी ने काव्य के गद्य, पद्य तथा मिश्र ये तीन भेद मानकर कई भेदोपभेद बताये हैं। वामन ने गद्य तथा पद्य ये दो प्रमुख भेद माने हैं। हेमचन्द्र ने दृश्य तथा श्रव्य ये दो भेद प्रमुख बताये हैं। विश्वनाथ ने भी काव्य के भेदोपभेद इस प्रकार बताये हैं —



काव्य के उपर्युक्त प्रकारों में से निम्नलिखित सात अधिक प्रचलित एवं विख्यात हैं --

(1) महाकाव्य
(2) खण्डकाव्य
(3) मुक्तक
(4) उपन्यास
(5) कहानी
(6) रूपक (नाटकादि)
(7) चम्पू

काव्य की परिभाषा एवं परिचय

भारतीय आलोचनाशास्त्र में काव्य की अनेक परिभाषायें उपलब्ध हैं। इनमें से प्रमुख ये हैं --

(1) ऋग्वेद में कहा गया है--

"मै अपने कवित्व को बादलों में से फूटकर बाहर आने वाली पावस की धारा समझता हूँ।" (ऋग्वेद 7/9/1)

यहाँ पर द्रष्टा ने निर्बाध तथा वेगयुक्त अभिव्यक्ति को काव्य-सर्वस्व बताया है।

(2) भरत मुनि ने ललित पदों से युक्त, सरल तथा लोक-सुख देने वाली रसयुक्त रचना को काव्य माना है—

"मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्॥"

(3) भामह ने हितयुक्त शब्दार्थ को काव्य माना है—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।"

(4) दण्डी ने स्फुट अलंकारों से युक्त, गुणमय तथा दोष-रहित पदावली को काव्य माना है—"काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम्।"

(5) वामन ने गुण तथा अलंकारों से परिमार्जित शब्दार्थ को ही काव्य बताया है—

"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोः वर्तते।"

(6) रुद्रट ने भामह का अनुकरण करते हुए कहा है—

"ननु शब्दार्थौ काव्यम्।"

(7) आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिः।"

(8) आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य बताया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥"

(9) आचार्य मम्मट ने पूर्ववर्ती मतों को ध्यान में रखकर एक समन्वय-युक्त परिभाषा दी है, जो अत्यन्त प्रसिद्ध है —

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।"

अर्थात् शब्द और अर्थ का वह समन्वित रूप जो दोष रहित हो तथा गुण-अलंकारयुक्त हो और कहीं-कहीं अलंकार स्पष्ट न भी हो तो काव्य कहलाता है ।

इस परिभाषा की आलोचना एवं समर्थन में बहुत कुछ कहा गया है । 'अदोषौ" की सर्वाधिक आलोचना हुई है । आलोचकों का कहना है कि दोष-रहित कोई रचना हो ही नहीं सकती । उत्तर में यह कहा गया है कि यहाँ रस-दोषों के अभाव को संकेतित किया गया है ।

डॉ. पुष्करदत्त शर्मा का कहना है कि 'अदोषौ' में 'नञ् तत्पुरुष' तथा 'बहुव्रीहि' दोनों समास विद्यमान हैं, जिससे भ्रम की सम्भावना रहती है । यों भी संस्कृत साहित्य में या कहें कि भारतीय साहित्य में सामान्यतः 'अदोष' शब्द का प्रयोग नहीं होता । इसके स्थान पर 'निर्दोष' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है, जैसे यह "बालक निर्दोष है" या "अपराधी को निर्दोष घोषित किया गया ।"

वस्तुतः आचार्य मम्मट की कारिकाओं में विद्यमान विचित्रताओं को देखकर यही कहा जा सकता है कि उनकी कारिका रचना पण्डितराज जगन्नाथ की उदाहृत रचनाओं की तुलना में बेढंगी सी थी ।

(10) जयदेव ने दोषरहित, रीति व गुणों से विभूषित, अलंकार, रस एवं वृत्तियों से विशिष्ट वाणी को काव्य कहा है—

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता ।
सालंकाररसानेकवृत्तिवाक्काव्यनामभाक् ।।"

(11) विश्वनाथ की काव्य-परिभाषा भी अत्यन्त प्रसिद्ध है । इसमें रसयुक्त वाक्य को काव्य बताया गया है—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।"

इस पर सबसे बड़ी आपत्ति यह की जाती है कि यह परिभाषा इतना तो बताती है कि वाक्य में क्या भरा है, किन्तु वाक्य कैसा है और क्या है, इसका संकेत नहीं करती। यह तो वैसी बात हुई, जैसे कि कोई कहे—"घड़े में गुड़ भरा है।" यहाँ जैसे घड़े के स्वरूप या रचना-पद्धति का पता नहीं चलता, वैसे ही विश्वनाथ की परिभाषा से उस वाक्य के बारे में कुछ भी अनुमान नहीं होता।

(12) पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्ववर्ती परिभाषाओं का खण्डन करके अर्थ की रमणीयता को प्रधानता देते हुए कहा है—

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

रमणीयता या सौंदर्यवत्ता पर बल देने के कारण यह परिभाषा अत्यंत आधुनिक सी प्रतीत होती है, किन्तु डॉ. पुष्करदत्त शर्मा ने इस पर एक आपत्ति उठाई है। उनके मतानुसार अर्थ का सुन्दर होना सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से विवादास्पद या कहें कि अव्यावहारिक है। "रमण करने योग्य अर्थ से युक्त शब्द" की काव्यात्मकता भी केवल पाठक या श्रोता पर परिणाम को द्योतित करता है, जैसे कि प्रकृति दर्शक को प्रभावित करती है, किंतु इससे प्रकृति क्या है, इस बिन्दु पर प्रकाश नहीं पड़ता।

अतः स्पष्ट है कि सौंदर्य या रमणीयता जो कि व्यक्तिपरक (Subjec'ive) वस्तु है, से युक्त अर्थ का होना अव्यावहारिक है। और यदि कोई अर्थ सौंदर्यबोधक हो भी तो उसका सौंदर्य का प्रतिपादन करने की क्षमता शब्द में तो हो ही नहीं सकती। सौंदर्य का साक्षात्कार या अनुभूति तो व्यक्ति द्वारा ही प्रतिपाद्य है।

इस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने काव्य को परिभाषित करने का अत्यधिक प्रयास किया है। अंग्रेजी तथा हिन्दी आदि के आलोचकों ने भी काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी हैं, किंतु इनमें से कोई भी सर्वग्राह्य नहीं है।

काव्य के प्रयोजन

काव्य-स्रष्टा किस प्रयोजन या लक्ष्य से सर्जना करता है, इस विषय पर विभिन्न मत प्राप्त हैं। कोई यश के लिए लिखता है तो कोई धन के लिए।

उपदेश देने हेतु या स्वरीय-परकीय कल्याणार्थ भी रचनायें की जाती हैं। लोक-मंगल को प्रशंसनीय प्रयोजन माना जाता है। "कला कला के लिए" अर्थात् आत्म-तुष्टि को या कहें कि अभिव्यक्ति की अनिवार्यता को भी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य माना जाता है। आजकल तो काव्य की प्रतिबद्धता (Commitment) भी प्रयोजन के रूप में स्वीकृत होने लगी है ।

संस्कृत के आचार्यों ने प्रमुखतया आचार्य मम्मट ने यश व धन की प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल का विनाश, ऐकात्म्य की संप्राप्ति एवं प्रियतमा की उपदेशात्मकता आदि को प्रयोजन मानकर कहा है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥"

इस सम्बन्ध में डॉ. पुष्करदत्त शर्मा ने एक आपत्ति उठाई है कि आचार्य मम्मट ने इस कारिका के द्वारा एक ओर तो कवि के लिए काव्य-रचना की प्रेरणाओं (यश तथा धन की प्राप्ति) का उल्लेख किया है और दूसरी ओर पाठक या श्रोता के लिए व्यवहार-ज्ञान एवं अमंगल-विनाश आदि परिणामों का उल्लेख किया है। इस प्रकार प्रेरणा एवं परिणामों को समान बताने से आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन असमीचीन प्रतीत होते हैं।

शब्द-शक्ति

काव्यशास्त्र में तीन प्रकार की शब्द-शक्तियाँ मानी गई हैं—

(क) अभिधा

(ख) लक्षणा

(ग) व्यंजना

अभिधा तो उसे कहते हैं, जो शब्द-कोशों में दिये गये अर्थ को बताये। लक्षणा में कोश-प्रदत्त अर्थ को पूरी तरह छोड़ा तो नहीं जाता, किन्तु उससे पृथक् अर्थ का संकेत किया जाता है। व्यंजना में कोश-प्रदत्त अर्थ पूर्णतः उपेक्षित करके एक सर्वथा नवीन या पृथक् अर्थ को अभिव्यक्त किया जाता है।

उदाहरणार्थ "गङ्गायां घोषः" का अभियेधार्थ तो होगा—'गंगा पर गाँव है।' किन्तु गंगा तो जलप्रवाह की द्योतक है, अतः जल पर गाँव का होना संदिग्ध है। इस पर लक्षणा-शक्ति से काम लेकर अर्थ निकाला गया कि 'गंगा के तट पर गाँव है।' यहाँ मूल गंगा शब्द का अभिधेयार्थ छोड़ा नहीं गया है।

किन्तु कथन में छिपे गम्भीर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए व्यंजना शक्ति से काम लेना पड़ेगा। तब अर्थ निकलेगा कि गंगा के तट पर जो गाँव है, उसमें वही पवित्रता एवं शीतलता है, जो गंगा के जल में विद्यमान है। इस अर्थ में पवित्रता एवं शीतलता का बोधक कोई भी शब्द मूल वाक्य में न तो अभिहित है, न ही लक्षित। यह तो सर्वथा व्यंग्यार्थ है।

संस्कृत आलोचनाशास्त्र में व्यंग्यार्थ के प्रधान होने पर ही काव्य को उत्तम माना गया है। यदि व्यंग्यार्थ अप्रधान हो तो मध्यम काव्य होता है। जहाँ अभिधेयार्थ प्रधान होगा तो वह अधम काव्य कहलाता है, जैसे कि चित्र-व्याक आदि।

रस-सिद्धान्त

काव्य में भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों का प्राधान्य होता है। भाव-पक्ष में समस्त वर्ण्य-विषयों का समावेश हो जाता है, जबकि कलापक्ष में वर्णन शैली के सभी अंग परिगणनीय हैं। ये दोनों पक्ष एक दूसरे के सहायक एवं पूरक होते हैं। भावपक्ष का सम्बन्ध आकार या शैली से है। वस्तु और आकार एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते।

भावपक्ष एवं कलापक्ष रस से सम्बन्धित हैं। कलापक्ष के अन्तर्गत जो अलंकार, लक्षणा, व्यंजना एवं रीतियाँ हैं वे सभी रस की पोषक हैं। भावपक्ष का तो सीधा सम्बन्ध रस से है। वह उसका प्रधान अंग है। कलापक्ष के विषय उससे सहायक एवं पोषक हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना है। यों तो रस

आस्वादजन्य आनन्द को कहते हैं किन्तु पारिभाषिक शब्दावली में उसे कहा जाएगा—

"विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ।

(भरत : नाट्यशास्त्र)

भरत मुनि की रस-सम्बन्धी यह घोषणा आज भी निर्विवाद रूप से ग्राह्य है। यह सत्य है कि "संयोगाद्" तथा "निष्पत्ति" के अर्थ को लेकर बड़ा भारी विवाद रहा है, जिसमें लोल्लट का 'उत्पत्ति-सिद्धान्त', शंकुक का 'अनुमिति-सिद्धान्त', भट्टनायक का 'उपमिति-सिद्धान्त' एवं अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्ति-सिद्धान्त' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा ।

भाव—भाव शब्द अत्यन्त व्यापक है। इसमें भाव (स्थायी और संचारी) के साथ-साथ विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) भी आ जाते हैं। संकुचित अर्थ में भाव को रस की ही एक अपूर्ण-व्यवस्था माना जाता है। काव्य की प्रत्येक विधा में भाव और विभाव अवश्य होंगे। इसके अतिरिक्त जहाँ भावों की अनेकरूपता होती है, वहाँ विभावों की भी विविधता हुआ करती है।

संकुचित अर्थ में भाव मन का विकार मात्र है। भावों के बाह्य व्यंजक अनुभाव और सात्त्विक भाव भी भाव की ही संज्ञा है। ये सभी भाव रस की उत्पत्ति, अनुभूति या अभिव्यक्ति में उसके कारण रूप हुआ करते हैं। भावों के अतिरिक्त रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशांति, भाव-शबलता आदि सभी भाव-जगत् के विस्तार में समाविष्ट हैं।

भाव रस से स्वतन्त्र नहीं है और भावों के बिना रस की भी सत्ता नहीं है। बीज-वृक्ष न्याय से वे एक दूसरे को प्रकाशित करते हैं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है—

"न भावहीनोऽस्ति रसो, न भावो रसवर्जितः ।" (6/36)

विभाव—विभाव की परिभाषा करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है—

"रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥"

(सा. द., तृ. परिच्छेद)

अर्थात् काव्य एवं नाट्य में रति आदि स्थायिभावों का बोध कराने वाले विभाव दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन तथा उद्दीपन ।

यद्यपि भाव का उद्गम रामादि आश्रय में होता है, तथापि उनका सीधा सम्बन्ध किसी बाह्य वस्तु से अवश्य होता है, चाहे वह वस्तु कल्पित हो या वास्तविक । हमारे भाव जिस किसी के प्रति होंगे, वही हमारे भाव का **'आलंबन'** होगा, जैसे राम के प्रति सीता और सीता के प्रति राम आलंबन होंगे । उचित आलम्बन के बिना भावों में शक्ति और सबलता नहीं आ सकती । आलम्बन भाव को जाग्रत करता है ।

जो रस को जाग्रत या उद्दीप्त रखने में सहायक होता है, उसे उद्दीपन कहा जाता है । उद्दीपन दो प्रकार का होता है--(1) आलम्बन गत चेष्टायें एवं उक्तियाँ आदि और (2) बाह्य वातावरण से सम्बद्ध वस्तुयें, जैसे प्रकृति-चित्रण आदि ।

अनुभाव—विभावों के दर्शन से मन में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे मन के अन्दर ही बंद नहीं रहते हैं । वे आश्रय की चेष्टा में बाह्य प्रकाशन भी चाहते हैं । इसी से भावों का अनुमान होता है । दशरूपककार धनंजय ने कहा भी है—

"अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचकात्मकः ।" (6/3)

अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है, जो भावों के पीछे होने वाले हों । ये लोक में कार्यरूप हैं, किन्तु रसोत्पत्ति में ये कारणरूप होते हैं ।

अनुभाव स्थायी और संचारी दोनों के होते हैं । अधर-स्पन्दन व नेत्रों में लालिमा आदि अनुभाव हैं । एक विशेष प्रकार के अनुभाव को "सात्त्विक भाव" कहते हैं । ये सत्त्व से उत्पन्न होते हैं । सत्त्व के सम्बन्ध में दशरूपक में गया कहा है--

"परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम् ।"

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, वेपथु, स्वरभंग, वैवर्ण्य, अश्रु एवं प्रलय (संज्ञा शून्यता)।

संचारी भाव—इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है। जो विशेष रूप से (उत्कर्ष भाव) और आभिमुखेन (अनुकूलता के साम्य) आते जाते हैं, वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। वे स्थायिभाव रूपी समुद्र में बुद्बुद की भांति आविर्भूत एवं तिरोहित होते रहते हैं। इनकी संख्या 33 है—

निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता, उग्रता, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, आलस्य, अमर्ष, निद्रा, अवहित्था (हर्ष को छिपाना), औत्सुक्य, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, त्रास, व्रीडा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिंता और वितर्क।

इनमें से श्रम, स्वप्न, निद्रा, विबोध, अपस्मार तथा उन्माद तो भौतिक संचारी भाव हैं। इनका मन से सीधा सम्बन्ध नहीं है, ऐसी शंका भी की जाती है। मति, स्मृति, वितर्क तथा अवहित्था जैसे कुछ संचारी भाव ज्ञानमूलक हैं।

यहां मृत्यु को भी एक संचारी भाव बताया गया है और दशरूपककार धनंजय ने इसके उदाहरण के रूप में उस नायिका का वर्णन किया है, जो प्रियतम के विदेश से न लौटने पर मृत्यु को अवश्यम्भावी मानती है और इसी हेतु वह किसी सखी को तो वस्त्र देती है, किसी को आभूषण, किसी को शुक और किसी को सारिका आदि।

इस उदाहरण के सम्बन्ध में आधुनिक समीक्षक डॉ. पुष्करदत्त शर्मा का कहना है कि यह उदाहरण मरण का नहीं बल्कि मरण की संभावना का है। वे यह भी कहते हैं कि मरण कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कभी उठे और कभी गिरे। स्थायिभाव रूपी समुद्र में मरण को बुद्बुद की तरह आविर्भूत एवं तिरोभूत होने वाला नहीं कहा जा सकता। यदि नायिका एक बार मर जाएगी तो फिर उसका पुनः जीवित होना असंभव है। अतः डॉ. शर्मा के कथनानुसार 'मरण' को संचारी भाव मानना भ्रांतिमात्र है।

स्थायी भाव—जो भाव सदा सर्वदा व्यक्ति के अंतस् में स्थित रहे और जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त विद्यमान रहे, उसे स्थायी भाव कहते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान में इसे नैसर्गिक वृत्ति (Natural Instruct) कहा गया है, जिसका यही तात्पर्य है कि जन्म से लेकर मृत्यु होने तक जो अंतस् में सदा स्थित रहे, उसे नैसर्गिक वृत्ति कहते हैं। यद्यपि इन वृत्तियों की संख्या 14 मानी गई है, जैसे रति, स्मित, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, विस्मय तथा चित्त-विकलता। प्रत्येक स्थायी भाव का संबंध किसी रस-विशेष से होता है, जैसे——

	रस
(1) रति	श्रृंगार
(2) स्मित	हास्य
(3) क्रोध	रौद्र
(4) उत्साह	वीर
(5) भय	भयानक
(6) घृणा	वीभत्स
(7) विस्मय	अद्भुत
(8) चित्त-विकलता	करुण

कुछ आचार्यों ने निर्वेद नामक स्थायी भाव और शांत रस को भी स्वीकार किया है, किंतु यह विवाद का विषय है। यदि शांत को नवम रस माना जाए तो वात्सल्य को दशम एवं भक्ति को ग्यारहवां रस मानना पड़ सकता है, क्योंकि इन दोनों की स्थापना के लिए अनेक तर्क उपस्थित किये गये हैं।

यहाँ स्मरणीय है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, बालक हो या वृद्ध या युवक, ये सभी आठों स्थायी भाव विद्यमान रहते हैं, किंतु एक समय में एक ही स्थायी भाव प्रमुखतया जाग्रत या अभिव्यक्त होगा। अन्य स्थायी भाव गौण रहने के कारण या अर्ध जाग्रत रहने के कारण प्रमुख स्थायी भाव के सहायक मात्र हो सकते हैं। अतः प्रमुख स्थायी भाव से संबंधित रस को 'अंगी' रस और सहायक को 'अंग' रस कहा जाता है।

उत्पत्ति आदि चार मत

पहले कहा जा चुका है कि भरत मुनि ने रस के संबंध में "विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" यह कहा था। इसमें प्रयुक्त "निष्पत्ति" शब्द के विभिन्न अर्थ किये गये हैं।

उत्पत्तिवाद—इसके प्रवर्तक आचार्य लोल्लट हैं। इन्होंने निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' बताया है। वे कहते हैं कि रंगमंच पर अभिनेता या अभिनेत्री द्वारा विभावनुभावसंचारिभावों के कुशल अभिनय के कारण उनके मन में रस की उत्पत्ति हो जाती है।

किंतु वास्तविकता कुछ और है। यदि अभिनेता या अभिनेत्री के मन में सत्य ही रस की उत्पत्ति हो जाती तो वे अभिनय करना भूल जाते और एक दूसरे के आलिंगन में बंध जाते या फिर रौद्रादि रस की उत्पत्ति होने पर वस्तुतः किसी पात्र का वध कर डालते। पर ऐसा होता नहीं, क्योंकि पात्रों को सदा ध्यान रहता है कि वे अभिनय कर रहे हैं। अतः उनके मन में रस की उत्पत्ति होने की बात स्वीकार्य नहीं है।

अनुमितिवाद—इसके प्रवर्तक आचार्य शंकुक हैं। वे कहते हैं कि रंगमंच पर कुशल अभिनेता या अभिनेत्री के अभिनय को देखकर उनके मन में रसानुभूति का अनुमान किया जाता है, जैसे कि दीवार पर रंगे चित्र में अंकित अश्व आदि को देखकर अनुमान किया जाता है और कहा भी जाता है कि यह अश्व है।

यह सिद्धांत भी त्रुटिपूर्ण है। अनुमान के लिए तो व्याप्ति, पक्ष, विपक्ष, सपक्ष आदि अनेक बातों का आश्रय लिया जाता है, जबकि रंगमंच पर अभिनय के समय व्याप्ति आदि का पूर्णतः अभाव होता है। यों भी रस के अनुभव तथा रस के अनुमान में बड़ा अन्तर होता है। अनुमान मात्र से तो आनन्द आ नहीं सकता। अतः यह सिद्धांत भी अस्वीकार्य है।

उपमितिवाद—इसके प्रवर्तक भट्टनायक हैं। उनका कहना है कि कुशल अभिनेता या अभिनेत्री के अभिनय के कारण दर्शक उन्हें अभिनेय पात्र के समान समझने लगता है, फिर भावकत्व एवं भोजकत्व नामक दो व्यापारों

की सहायता से स्वयं भी रस का उपभोग करने लगता है। इस प्रकार वे 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उपमिति' मानते हैं।

यह मत भी त्रुटिपूर्ण है। न तो उपमिति मात्र से रस-चर्वणा की जा सकती है और न ही भावकत्व या भोजकत्व व्यापार की सत्ता को स्वीकार किया जा सकता है।

अतः यह मत भी अस्वीकार्य है।

अभिव्यक्तिवाद—इसके प्रवर्तक आचार्य अभिनवगुप्त हैं। वे कहते हैं कि अभिनेता या अभिनेत्री के कुशल अभिनय को देखकर दर्शक, श्रोता या पाठक के हृदय में स्थित संबंधित स्थायी भाव उद्‌बुद्ध हो जाता है। साधारणीकृत स्थायी भाव की उस अविभक्त स्थिति में ब्रह्मानंद सहोदर रस की चर्वणा अर्थात् अभिव्यक्ति हो जाती है।

इस प्रकार उन्होंने निष्पत्ति का अर्थ एक अभिव्यक्ति मात्र माना है।

यह सिद्धांत प्रायः सभी परवर्ती आलोचकों को स्वीकार है। संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी के रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, नंददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति आलोचकों ने भी साधारणीकरण एवं रसाभिव्यक्ति के सिद्धान्त को पूर्णत मान्यता दी है।

अतः भरत मुनि द्वारा प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'अभिव्यक्ति' ही मानना चाहिए।

काव्य-गुण

काव्य-शोभा के उत्पादक धर्म को गुण कहा गया है। जिस प्रकार आत्मा के शौर्य आदि धर्म होते हैं, वैसे ही प्रधान रस के जो अपरिहार्य एवं उत्कर्षाधायक धर्म हैं, वे गुण कहलाते हैं, जैसे आचार्य मम्मट ने कहा है—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥"

(काव्यप्रकाश : अष्टम उल्लास)

काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है, किन्तु अलंकारों की नहीं।

कहीं-कहीं स्फुट अलंकार न होने पर भी उत्तम काव्य हो सकता है, किन्तु गुणों के न होने पर काव्य-शोभा नहीं हो सकती। गुण तो काव्य के स्वरूपाधायक धर्म हैं, जबकि अलंकार उसके उत्कर्षाधायक अथवा उसकी उपादेयता के तारतम्य के प्रयोजक धर्म हैं। संक्षेप में रसादिरूप ध्वनि के आश्रित धर्म तो गुण होते हैं, जबकि शब्द तथा अर्थ के धर्म अलंकार होते हैं।

आचार्य मम्मट ने गुणों के तीन भेद स्वीकार किये हैं, माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। इसके पूर्व आचार्य वामन ने दस गुण बताये थे—

ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति एवं कान्ति। उन्होंने दस शब्द गुण तथा दस अर्थ गुण मानकर गुणों की संख्या 20 तक पहुँचाई है।

आचार्य भामह ने भी ओज, माधुर्य तथा प्रसाद ये तीन ही गुण स्वीकार किये हैं। अन्य गुणों को या तो इन तीनों में ही समाविष्ट माना गया है, या फिर दोषाभावत्व होते हैं, या कुछ कहीं पर गुण न होकर दोषरूप हो जाते हैं। इसीलिए मम्मट ने कहा है—

"केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥"

(का. प्र. 8.72)

वे शब्द गुण तथा अर्थ गुणों के रूप में विभाजन भी अस्वीकार करते हैं और तीन ही गुण मानते हुए "त्रिगुणवाद" की स्थापना करते हैं।

प्रसाद गुण का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है, जो कि हर्ष-रचित "रत्नावली" से संग्रहीत है—

"परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः संतापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्॥" (द्वितीय अंक)

यहां श्रवण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो रही है, अतः प्रसाद गुण है।

माधुर्य गुण वहां होता है, जहाँ ट वर्ग को छोड़कर क् से म् तक, रकार, समास रहित या स्वल्प समास का प्रयोग होता है।

ओज गुण वहाँ होता है, जहां वर्ग के प्रथम-तृतीय वर्णों के साथ द्वितीय एवं चतुर्थ वर्ण का योग हो, रकार का अन्य व्यंजन के साथ योग, तुल्य वर्णों का योग, ण् को छोड़कर टवर्ग का प्रयोग, श् तथा ष् का प्रयोग, दीर्घ समास और विकट रचना होती है।

काव्य-दोष

मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है, उसे दोष कहते हैं। मुख्यार्थ से तात्पर्य है, रस। रस ही मुख्य (अर्थ) होता है। रस चर्वणा में व्याघात होने पर रस-दोष होता है। किन्तु रस का वाच्य होने के कारण वाच्य अर्थ में स्थित दोष अर्थ दोष होता है। (अर्थ) भी मुख्य अर्थ कहलाता है। शब्दादि उस रस तथा वाच्यार्थ के बोधन में उपकारक होते हैं, अतः उन शब्दादि में दोष रहता है और उसे पददोष कहते हैं। आचार्य मम्मट कहते हैं—

"मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥"

(का. प्र. सप्तम उल्लास)

आचार्य मम्मट ने ये 16 दोष गिनाये हैं—

श्रुतिकटु, च्युतसंस्कार, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, तीन प्रकार का अश्लील, संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ ये दोष पदगत एवं समासगत दोनों प्रकार के होते हैं), क्लिष्ट, अविमृष्ट विधेयांश और विरुद्धमतिकृत्।

ये 16 दोष पदगत, वाक्यगत तथा पदैकदेश में स्थित हो सकते हैं। कुछ दोष केवल वाक्य में ही हो सकते हैं, जिनकी संख्या 21 बताई गई है। 23 अर्थ दोष भी गिनाये जाते हैं।

रस-दोष ये हैं—

(क) व्यभिचारिभावों, रसों अथवा स्थायिभावों का वाचक शब्दों द्वारा कथन।

(ख) अनुभाव तथा विभाव की कष्ट-कल्पना से अभिव्यक्ति।
(ग) रस के प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण।
(घ) रस की पुनः पुनः दीप्ति।
(ङ) रस का अनवसर विस्तार या विच्छेद।
(च) अप्रधान रस का अत्यधिक विस्तार।
(छ) प्रधान रस का परित्याग या विस्मरण।
(ज) पात्रों का विपर्यय।
(झ) अनंग (प्रकृत रस का अनुपकारक) का कथन।

उत्तम काव्य तभी होता है, जब उसमें रस-दोष विद्यमान न हों।

संस्कृत के विभिन्न आलोचना-सम्प्रदाय

संस्कृत आलोचना-शास्त्र के अंतर्गत उन सम्प्रदायों का विवेचन आवश्यक है, जिन्होंने समय-समय पर विभिन्न रचना-शैलियों को अत्यधिक प्रभावित किया। ये सम्प्रदाय हैं—

(1) रस-सम्प्रदाय
(2) अलंकार-सम्प्रदाय
(3) रीति-सम्प्रदाय
(4) ध्वनि-सम्प्रदाय
(5) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय
(6) औचित्य-सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि हैं। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि रस-परम्परा पहले से चली आ रही थी, यद्यपि तत्संबंधी रचनाओं या रचनाकारों के संबन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। भरत मुनि ने रसों का विवेचन रूपक के संदर्भ में किया है, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने रसों को श्रव्य काव्य के भी उपयुक्त मानकर उनका विवेचन किया है।

भरत मुनि ने शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स को प्रधान रस बताकर अद्भुत, करुण, हास्य तथा भयानक को उनसे उद्भूत माना है। उन्होंने शांत रस को स्वीकार नहीं किया।

रस की निष्पत्ति से संबंधित उनका कथन आज भी सर्वमान्य है—

"विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।"

परवर्ती आचार्यों ने रसों का विवेचन किया तो अवश्य, किन्तु आरंभ में रस की महत्ता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। भामह ने अलंकार एवं वक्रोक्ति को ही प्रधानता दी। उन्होंने "रसवत्" की परिभाषा करके रसों से स्वकीय परिचय भी स्वीकार किया था। वे महाकाव्य में सभी रसों का समावेश चाहते थे, किन्तु वे स्वयं अलंकारों को ही महत्त्व देते रहे।

दण्डी ने भी रस की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, किंतु उन्होंने रस को माधुर्य गुण में सम्मिलित करके उसके दो भेद किए—वाग्रस तथा वस्तु-रस। उनका वाग्-रस से अभिप्राय अंत्यनुप्रास से था और वस्तु-रस से अग्राम्यत्व का। उन्होंने आठों रसों तथा स्थायिभावों का विवेचन तो किया है किंतु उसे स्वतन्त्र विवेचन कहना कठिन है।

वामन ने रस को काव्य का नित्य गुण बताया और अर्थगुण 'कान्ति' में रस की दीप्त अवस्था मानी। वे भामह तथा दण्डी से इस रूप में आगे बढ़े कि उन्होंने काव्य में रसों को अनित्य और निवार्य नहीं माना।

उद्भट ने न केवल आठों रसों का, बल्कि स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का वर्णन भरत मुनि के अनुसार ही किया। उन्होंने प्रथम बार शांत रस का भी प्रतिपादन किया। उन्होंने अलंकार को रसवत् बनाने का ध्येय सामने रखकर ही रसों का विवेचन किया था। उनकी दृष्टि में रस तो अलंकार और रीति को उत्कर्ष पर पहुंचाने का साधन मात्र ही रहा है।

रुद्रट ने आठ रसों में शांत और प्रेयस् को जोड़ दिया। वे मूलतः अलंकारवादी थे। वे सरस काव्य को उत्कृष्ट मानकर भी रस को अलंकार से अधिक महत्त्व नहीं दे सके।

रस की निष्पत्ति के संबंध में भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त के मतों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। उसमें अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति-सिद्धांत द्वारा यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि अभिव्यक्ति से ही रस की प्रतीति होती है। अभिव्यक्ति रस की नहीं, बल्कि उसके आस्वाद की होती है। इस प्रकार के रसास्वादन के लिए उन्होंने व्यंजना को ही उपयुक्त माना है।

रस को स्पष्ट और व्यंजक बनाने के लिए गुणों का विधान किया गया। भरत ने दस गुण बताये, जिन्हें दण्डी ने भी प्रकारांतर से माना है, किन्तु मम्मट ने प्रसाद, माधुर्य तथा ओज को ही स्वीकार किया। इन्हीं तीन गुणों को आज भी मान्यता प्राप्त है।

अलंकार-सम्प्रदाय

काव्य शोभा को बढाने वाला धर्म अलंकार कहलाता है। यों तो प्रतिभाशाली कवि की स्वाभाविक उक्ति ही वास्तविक अलंकार होती है, जिसे स्वभावोक्ति अलंकार कहा जाता है, किंतु दंडी ने इसे वक्रोक्ति से भिन्न माना है। भामह और कुंतल ने तो स्वभावोक्ति को अलंकार माना ही नहीं।

भामह ने वक्रोक्ति को अलंकार-सर्वस्व मानकर भी कहीं उसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की। उन्होंने तो वक्रोक्ति को समवाय रूप से समस्त अलंकारों की एक संज्ञा ही माना। कुंतल ने भामह का अनुकरण करते हुए अलंकार मात्र में अतिशयोक्ति की व्यापकता को स्वीकार किया। दण्डी भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे थे। आनंदवर्धनाचार्य ने भी अतिशयोक्ति को "सर्वालंकारसामान्यरूपम्' बताया है।

अलंकारों की संख्या एवं परिभाषा के संबंध में बड़ा मतभेद है। भरत मुनि ने कुल चार अलंकार माने थे, किन्तु बाद में इनकी संख्या बढ़ती गई। फिर तो जो अलंकार काव्य-शोभा की वृद्धि के साधन थे, वे काव्य के साध्य बन गये। अलंकार-वाद की प्रधानता के कारण उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा संदेह, अपह्नुति और अनन्वय आदि सैकड़ों अलंकारों से एक ही वस्तु का बोध

कराने की परिपाटी चल पड़ी। किसी युवती के प्रसन्न मुख का सौंदर्य बताने के लिए कम से कम 21 अलंकार प्रयुक्त हो सकते हैं।

इन अलंकारों के भेदोपभेदों के कारण तो इनकी संख्या बहुत ही बड़ी हो जाती है। काव्य में अलंकारों की अपरिहार्यता मानने वाले आचार्यों का यह दुराग्रह ही कहा जाएगा, क्योंकि इन आचार्यों ने काव्य-वस्तु की प्रकृति को सर्वथा उपेक्षित कर डाला।

यह सत्य है कि काव्य-रचना में अलंकारों का स्थान होता है, किन्तु यह बाह्य-शोभा में ही वृद्धि करता है। अतः कहीं-कहीं अलंकारों के न होने पर भी उत्तम काव्य की सत्ता को स्वीकार किया गया हैं।

रीति-सम्प्रदाय

यद्यपि दण्डी और वामन को रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है, किन्तु इसकी परंपरा सभवतः भामह से पहले भी विद्यमान थी। दण्डी का समय भामह तथा वामन के बीच में पड़ता है। उन पर अलंकार-सिद्धान्त का काफी प्रभाव पड़ा था और रीति के तो वे उन्नायक ही थे। अतः उन्हें वामन का पोषक माना जा सकता है।

काश्मीर में जिस समय उद्भट अलंकार-सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे, उसी समय दण्डी के आधार पर वामन भी रीति-सिद्धान्त को संपुष्ट कर रहे थे। दण्डी में रीति-विषयक अस्पष्टताएँ एवं उच्छृखलताएँ थीं। किंतु वामन ने उन्हें सुबोध और नियमित कर डाला। उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने केवल काव्य-शरीर के संबंध में ही विचार किया था, किंतु वामन ने 'काव्य की आत्मा' पर सर्वप्रथम ध्यान दिया और घोषणा की—

"रीतिरात्मा काव्यस्य।"

अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति को उन्होंने "विशिष्ट पद-रचना" के रूप में परिभाषित किया। उन्होंने रीति के तीन विभाग किए—

(1) वैदर्भी, (2) गौडी और (3) पाञ्चाली।

वैदर्भी में दसों गुरण, गौडी में ओज तथा काँति नामक गुरण और पाँचाली में माधुर्य तथा सौकुमार्य गुरण बताये।

वामन ने रीति-तत्त्व के रूप में काव्य में गुरणों की अनिवार्यता मानी है, अतः रीति को गुरणात्मा भी कहा गया है। रुद्रट ने रीति का संबंध शब्द-विन्यास के साथ मानते हुए उसे शब्द की समासवती वृत्ति कहा है।

वस्तुतः रीति का संबंध शब्द-विन्यास के साथ मानना उचित है। इसलिए परवर्ती आचार्यों ने रीति को काव्य की आत्मा नहीं माना है।

ध्वनि-सम्प्रदाय

ध्वन्यालोक के लेखक आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

"काव्यास्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः ।"

"विद्वानों ने जो कि ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है........।" इससे स्पष्ट है कि ध्वनि का कुछ विवेचन आनन्दवर्धनाचार्य के पहले ही होने लगा था, किंतु मुख्यतः उन्हें ही ध्वनि-सिद्धांत का प्रवर्तक माना जाता है।

ध्वनिकार ने शब्द के अभिधा, लक्षरणा तथा व्यंजना नामक तीन विभाग माने थे। इनमें से लक्षरणा को अभिधा से पृथक् मानने का बड़ा विरोध हुआ। भट्ट नायक ने तो इसे माना ही नहीं। वैयाकरणों ने व्यंजना को स्वीकार नहीं किया, किंतु बाद में इसे स्फोट-सिद्धांत से ही उद्भूत मान लिया।

वाच्यार्थ की तरह व्यंग्यार्थ द्वारा सर्वत्र कथन नहीं हो सकता। व्यंग्यार्थ की प्रधानता को ही ध्वनि कहते हैं। ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं, लक्षरणा मूला और अभिधामूला। लक्षरणामूला को अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी कहते हैं। इसके भी दो भेद है, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि और अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि। अभिधामूला ध्वनि के भी दो भेद हैं, असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। असंलक्ष्यक्रम में क्रम इतना सूक्ष्म होता है कि उसका पता ही नहीं लगता। इसमें रस, भाव, रसाभाव, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता की व्यंजना होती है। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि से वस्तु

और अलंकारारादि की व्यंजना होती है। इसके तीन उपभेद हैं, शब्द शक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभयशक्त्युद्भव।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने यह दिखलाया कि व्यंजना किस प्रकार रस-परिपाक के लिए उपयुक्त है। इस प्रकार उन्होंने रस तथा ध्वनि के ऐकात्म्य को प्रतिपादित करने का प्रयास किया। अभिनवगुप्त ने रस का इतना महत्त्व बताया कि रस ही काव्य का एकमात्र तत्त्व या सौंदर्याधार है। अतः परवर्ती आचार्यों ने वस्तु-ध्वनि और अलंकारध्वनि की उपेक्षा करके रस-ध्वनि का प्राधान्य माना। उन्होंने "रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्" कहकर वस्तु और अलंकार को रस में समाविष्ट कर लिया। इसलिए कविराज विश्वनाथ ने भी कह डाला—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक थे। उन्होंने ध्वनि-सिद्धांत का खण्डन करने की अपेक्षा भामह की वक्रोक्ति के आधार पर अपना मत स्थापित किया और कहा कि—

"वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।"

अर्थात् वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण या सर्वस्व है। वक्रोक्ति को उन्होंने 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति" कहा है। उन्होंने कवि व्यापार के छः विभाग बताये हैं, वर्ण, पदपूर्वार्द्ध, पदपरार्द्ध, वाक्य, प्रकरण तथा निबन्ध।

उन्होंने भामह के अनुसरण पर काव्य में 'लोकातिक्रांतगोचरता' को आवश्यक माना है। इसी में अतिशयोक्ति सम्मिलित है। इसी लोकोत्तर-चमत्कार के पास पहुँचकर वे रस-सिद्धांत को मानने के लिए बाध्य से हो जाते हैं।

ध्वनिवादियों ने अलंकार को वाग्विकल्प बताकर अलंकार व्यंग्य होने से उसे गुणीभूतव्यंग्य कहा है। इसके विपरीत कुंतक ने वैचित्र्य, विच्छित्ति या वक्रत्व के रूप में वक्रोक्ति में जो अलंकार आ, जायें, उन्हें स्वीकार किया

है। किंतु मम्मट ने कहा है कि जहाँ रस व्यंग्य न हो, वहाँ अलंकार उक्ति-वैचित्र्य में ही परिणत होगा।

कुंतक ने ध्वनि-सम्प्रदाय से कुछ बातें उधार ली हैं जैसे कि ध्वनि का भेद अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि वक्रोक्ति की रूढिवैचित्र्य वक्रता में में सम्मिलित है और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि का भाव उपचारवक्रता में मिला दिया गया है। कुंतक ने रस को वक्रोक्ति का एक तत्त्व मात्र माना है और उसे अनिवार्य नहीं बताया है। कुंतक ने रसवत् को वस्तु-वक्रता में रखा है।

इस प्रकार उन्होंने व्यंजना को काव्य में उपयोगी माना है और ध्वनि तथा रस के प्रायः सभी मुख्य विचार वक्रोक्ति-सम्प्रदाय में समाविष्ट कर लिए हैं। किंतु मूल रूप में वे वैचित्र्य या विच्छित्ति को प्रधान मानकर स्वाभाविक तथा कलात्मक अभिव्यक्ति में भेद भी बताते हैं।

औचित्य-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र थे। इनका निवास काश्मीर में था। इन्होंने भारतमंजरी, बृहत् कथामंजरी तथा नृपावलि प्रभृति 40 ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से कुछ उपलब्ध नहीं हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इनका योगदान 'औचित्यविचारचर्चा' नामक कृति के रूप में है, जिसमें क्षेमेन्द्र की निजी वृत्ति सहित कारिकाएँ दी गई हैं। इसमें अनेक लेखकों तथा रचनाओं से उदाहरण संग्रहीत हैं। क्षेमेन्द्र ने स्वरचित उदाहरण भी दिये हैं।

'औचित्यविचारचर्चा' की रचना राजा अनंत के समय में हुई, जैसा कि उसमें उल्लेख भी है—

"तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।"

राजा अनन्त का राज्यकाल 1028 ई. 1063 ई. से तक माना जाता है, अतः क्षेमेन्द्र की रचना का समय 1063 ई. से पूर्व होना चाहिए। क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे, जिनका कार्यकाल 980 से 1020 ई. के मध्य रहा है। अतः क्षेमेन्द्र का जन्म 990 ई. के आसपास होना चाहिए।

क्षेमेन्द्र ने इस रचना में औचित्य को रस-सार बताते हुए कहा है—

"औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥"

औचित्य की परिभाषा देते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं—

"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥"

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को पद, वाक्य, कथा-वस्तु, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, उपसर्ग, काल तथा देश आदि विविध वस्तुओं के साथ संबद्ध किया है ।

ध्वन्यालोक की निम्नलिखित उक्ति में औचित्य के अभाव को रसभंग का कारण बताते हुए कहा गया है—

"अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबधन्स्तु रसस्योपनिषत् परा ॥"

संक्षेप में उचित स्थान पर उचित वस्तु का होना ही औचित्य है । इसके विपरीत अनौचित्य कहलाता है, जैसे कि गल-हार को कटि पर धारण करना; करधनी (कटिभूषण) को गले में पहनना, केयूर (भुजबन्ध) को कलाई पर धारण करना आदि अनौचित्य की श्रेणी में आते हैं । काव्य में भी इसी प्रकार के अनौचित्य के होने से रस-भंग होता है, अतः अनौचित्य का परिहार आवश्यक है ।